प्राणायाम का महत्व

श्री मती डा0 उषा लोहान

प्राणायाम का महत्व

लेखिका

श्रीमती डा० उषा लोहान

एम.ए. शारीरिक शिक्षा एंव दर्शन

पीएच.डी. (योग)

एन. आई. एस. (हॉकी) पटियाला,

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ।

समर्पण

पुण्यश्लोक, अमर बलिदानी स्वामी श्रद्धानन्द जी को, जिन्होंने प्राच्य विद्याओं के उत्थान के लिए गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की स्थापना की ।

प्रेरणा स्त्रोत

स्वामी श्रद्धानन्द के "असिद्ध स्वपनों" को साकार करने में सतत् प्रयत्नशील -

डा० धर्मपाल जी,
कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ।

प्रोत्साहन

योगशिक्षा एवं योग चिकित्सा के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान् -

डा० ईश्वर जी भारद्वाज,
अध्यक्ष, योग विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ।

कृतज्ञताज्ञापन

श्रीमती डा० उषा लोहान
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ।

लेखिका की ओर से

जब मैं पाँचवी श्रेणी में पढ़ती थी, तो उस समय हमारे विद्यालय में मुख्य अध्यापक की ओर से एक सूचना निकाली गई कि आज विद्यालय में एक ब्रह्मचारी योग का प्रदर्शन करेंगें । मेरे लिए ब्रह्मचारी और योगशब्द दोनों ही नए थे । अतः नई चीजों के प्रति कौतुहल और देखने की प्रति उत्साह भी उमड़ रहा था । ब्रह्मचारी जी ने पहले तो अपने शरीर को विचित्र भंगिमाओं में तरोड़-मरोड़ कर दिखाया, जिन्हें हमारे अध्यापक आसनों के नाम से पुकार रहें थे । लेकिन मेरी समझ में कुछ नहीं आया/और मैं इसे बचपन में देखी गई बाजीगरी नटविधा का खेल ही समझती रही । इसके बाद ब्रह्मचारी ने लम्बा सांस खींच करकररोकने का खेल दिखाया । इसको देखकर मैंने दाँतों के नीचे उँगली दबाई । मेरी समझ में यह नहीं आया कि कार रोकने और लम्बा सांस लेने के बीच क्या सम्बन्ध है ?

अगले दिन विधालय लगने पर पहली घंटी के अध्यापक से पूछ बैठी कि गुरु जी, कार के रोकने में और लम्बा सांसा लेने का क्या प्रयोजन है ? अध्यापक का सीधा और सरल उत्तर था कि ब्रह्मचारी ने तो प्राणायाम के बल से कार रोकी थी । प्राणायाम शब्द सुनने का भी मेरा पहला अवसर था । बस, फिर क्या था । प्राणायाम शब्द पर मैं इतना मोहित हो गई कि प्रत्येक काम करने के लिए प्रणायाम की दुहाई देने लगी और नोबत यहाँ तक आ गई कि रोटी पकाने और बर्तन माँझने को भी मैं प्राणायाम के बल से करने का दावा करने लगी । कुछ तो बचपन और कुछ ना समझी के कारण मैं प्राणायाम को भूत की शक्ति मानने लगी ।

जब कालेज में प्रवेश लिया तो उस समय विश्वविधालय की ओर से खेल प्रतियोगिताओं में योग भी सम्मलित हो गया था । मैं भी कालेज की तरफ से योग की टीम में विश्वविधालय प्रतियोगिताओं में भाग लेने लगी । उस समय मेरी समझ में आया कि प्राणायाम भूत की शक्ति न होकर अपने अन्दर की सांस की शक्ति है और इसी शक्ति के अर्थात् प्राणायाम के बल से अद्भुत दीखने वाले कार्य किए जा सकते है तथा शारीरिक और मानसिक रोगों का उपचार किया जा सकता है ।

महाविधालय और विश्वविधालय में योग विषय का अध्यापन और प्रयोगात्मक परीक्षण देते समय मैंने समझा कि आसनों के समान ही प्राणायाम भी महत्वपूर्ण है । असान प्रणायाम के बिना अधूरे हैं और प्राणायाम आसनों के बिना पंगु है । आसन का प्रभाव लोगों पर स्पष्ट ... उसकी प्रक्रिया बाहरी है, व आखों से देखा जा सकता है ।

इसके विपरीत प्राणायाम की प्रक्रिया भीतरी है और वह आँखों से दिखाई नहीं देती । किन्तु शरीर और मन पर प्रभाव की दृष्टि से आसनों की अपेक्षा प्राणायाम का अधिक महत्त्व है । क्योंकि प्राणायाम से शरीर और मन स्वस्थ और सबल बनते हैं ।

मेरे अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया कि वस्तुतः आसनों की अपेक्षा प्राणायाम अधिक महत्त्वपूर्ण है । अतः शनैः शनैः मैंने प्राणायाम के विषय में रुचि ली और एतत् सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन आरम्भ कर दिया/परन्तु इस दिशा में मुझे बहुत कठिनाई आई क्योंकि प्राणायाम सम्बन्धित पुस्तकों में दार्शनिकता और अध्यात्मिकता के नीचे प्राणायाम की व्यावहारिकता दब गई थी । ऐसी स्थिति में मैंने निश्चय किया कि प्राणायाम की व्यावहारिकता और उपयोगिता पर ऐसी पुस्तक लिखी जाए जो कि कालेज तथा विश्वविद्यालय में योग के विषय को लेकर पढ़ते हैं उन्हें सुविधा हो तथा अन्य योग में रुचि रखने वालों को भी लाभ पँहुचे ।

मुझे इस बात पर हर्ष और गौरव है कि मेरे इस प्रयास को गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय ने प्रकाशन के योग्य समझा और विश्वविद्यालय के शताब्दी वर्ष में इसे प्रकाशित किया । मैं इसके लिए विश्वविद्यालय के कुलपति डा० धर्मपाल जी का विशेष आभार प्रकट करती हूँ ।

यदि मेरी इस रचना की एक भी पंक्ति किसी योग जिज्ञासु को लाभ पहुँचा सके, तो मैं अपने परिश्रम को सफल मानूँगी ।

डा० उषा मोहन

अनुक्रम :-

प्राण वायु का महत्व

योग भारतवर्ष की अमूल्य सम्पत्ति है। आर्य जाति के समस्त साहित्य में योग का मुक्त कण्ठ से गुणगान हुआ है। योग ग्रन्थों में योग, समाधि, एकाग्रता, परमागति और समापत्ति ये सभी शब्द प्रायः समानार्थक हैं। साधना के रूप में जब योग पर विचार किया जाता है, तब इस सम्बन्ध में शरीर, प्राण और चित्त (मन) ये तीन तत्व हमारे सामने आते हैं। हमारा उदेश्य यहाँ प्राण वायु के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत करने का है। क्योंकि वेदों, आरण्यकों और उपनिषदों, में प्राणवायु और आयु को समानार्थक माना गया है। कौषितकिउपनिषद के अनुसार, "यावद्ध्यस्मिन्न शरीरे प्राणो वसति तावदायुः" लिखा है। अर्थात जब तक शरीर में प्राण हैं तभी तक आयु है। प्राण वायु नामक तत्व पर यौगिक दृष्टि से विचार करने पर हमें यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सभी साधकों का मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक और धार्मिक दृष्टिकोण एक समान नहीं होता है। इसी स्तर भिन्नता के कारण साधना के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय अथवा मार्ग उत्पन्न हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी युक्तियुक्त और अनुभव सिद्ध है कि एक ही यौगिक सम्प्रदाय अथवा मार्ग पर चलने वाले साधकों के लिए भी अनेक प्रकार के साधनों की आवश्यकता पड़ती है। इसमें भी पहले और पीछे (आनुपूर्वी) का ध्यान रखना पड़ता है। इस प्रकार अधिकारी भेद, साम्प्रदायिक भेद, और बौद्धिक भेद और आनुपूर्वी भेद से एक ही योग अनेक योगों के नाम से प्रचलित होता गया।

भारतीय यौगिक साहित्य के अध्ययन से यह मालूम पड़ता है कि आगे लिखे योग सम्प्रदाय मुख्य रूप में भारतीय जन मानस को समय-समय पर प्रभावित करते रहे हैं :-

1- क्रिया योग	2- समाधियोग	3- मन्त्रयोग	4- जपयोग
5- लययोग	6- हठयोग	7- कुण्डलिनीयोग	8- शब्दयोग
9- शून्ययोग	10- अस्पर्शयोग	11- भक्तियोग	12- प्रेमयोग
13- प्रपत्तियोग	14- कर्मयोग	15- सांख्ययोग	16- ज्ञानयोग
17- राजयोग	18- महायोग आदि		

उपर्युक्त सभी योगमार्गों में योग के अंगों (सोपान) की संख्या और पौर्वापर्य (पहिले-पीछे) के विषय में एकरूपता नहीं है। इस अनेकरूपता के कारण योग के अंगों की संख्या चार से लेकर चौबीस तक पहुँच गई है। परन्तु संख्याओं की भिन्नता होने पर भी "प्राणायाम" नामक

अंग को सभी ने स्वीकार किया है । इससे यह अभिप्राय निकलता है कि प्राणवायु पर नियन्त्रण करने पर शरीर और मन (चित्त) दोनों पर नियंत्रण हो जाता है ।

वर्तमान काल में पातंजल योगदर्शन की "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (चित्त की वृत्तियों को रोकना योग कहलाता है) की परिभाषा आदर्श रूप में स्वीकार्य होने पर भी व्यवहार्य रूप में प्रयुक्त होती दिखाई नहीं देती । अब यह परिभाषा "शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्" (शरीर ही सम्पूर्ण सांसारिक धर्मों के पालन के लिए आवश्यक है) के चारों ओर सिमट गई है और योग के नाम पर "आसन" और उसके पश्चात् "प्राणायाम" आ बैठे हैं । इस पुस्तक में हमयोग के अन्य अंगों की अपेक्षा केवल "प्राणायाम" पर ही विचार करेंगे ।

हठयोग में प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुसार प्राणायाम के माध्यम से शारीरिक क्रियाओं पर अधिकार किया जा सकता है और शारीरिक क्रियाओं पर अधिकार होने पर चित्त की विपरीत दिशा की ओर जाती दूषित मनोवृत्तियों को भी रोका जा सकता है । पातंजल योगदर्शन भी व्याधि, स्त्यान (इच्छा होने पर भी किसी कार्य को न करने की सामर्थ्य न होना), प्रमाद, आलस्य, अंगमेजयत्व (शरीर के अंगों का कांपना) आदि मानसिक और शारीरिक बाधाओं को दूर करने के लिए "प्राणायाम" नामक अंग को महत्वपूर्ण मानता है । अतः वर्तमान समय में भारतीय समाज में प्रचलित "योग" शब्द "हठयोग" और "राजयोग" का मिश्रित स्वरूप है और इनका परस्पर इतना गहरा सम्बन्ध है कि "हठयोग" के साहित्य का उद्घोष है कि "राजयोगाय हठ विद्योपदिश्यते" अर्थात् राजयोग की पूर्णता के लिए ही हठयोग का उपदेश किया जाता है । अर्थात् मन की सिद्धि के लिए शरीर की शुद्धि अत्यावश्यक है । अतः हठयोग राज योग का पूरक है ।

इस रहस्य की गुत्थी को सुलझाने के लिये हमें पतंजलि मुनि द्वारा निर्दिष्ट योग के आठ अंगों यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की ओर ध्यान देना होगा । इन आठ अंगों में से शरीर और मन के नियन्त्रण के लिए प्रत्यक्ष रूप में आसन, प्राणायाम, ध्यान और समाधि ये चार अंग ही महत्वपूर्ण है । इनमें से आसन और प्राणायाम पर हठयोग के ग्रन्थों में विस्तृत चर्चा मिलती है तथा ध्यान और समाधि पर राजयोग के ग्रन्थों में विस्तार से लिखा मिलता है । पंतजलि के योगदर्शन में आसन पर केवल एक सूत्र और प्राणायाम पर चार सूत्र (एक समाधिपाद

तथा तीन सूत्र साधन पाद" में मिलते हैं, जबकि समाधि के विषय पर बहुसंख्यक सूत्रों की भरमार है। हठयोग के ग्रन्थों (हठयोगप्रदीपिका, घरेण्ड संहिता, गोरक्ष - पद्धति आदि) में आसन और प्राणायाम के भेद-उपभेदों से सम्बन्धित श्लोकों की अधिकता है। देहशुद्धि हठयोग का उद्देश्य है। इसीलिए हठयौगिक पारिभाषिक शब्दावली में इसे "घटस्थ योग" नाम दिया गया है। "राजयोग" में चित्त (मन) की शुद्धि पर अधिक बल है। क्योंकि शरीर में मन ही राजा के समान है। अथवा ऐसा कह सकते है कि शरीर के बिना मन नामक इन्द्रिय का अस्तित्व ही नहीं है। इस प्रकार हठयोग राजयोग की पूर्वपीठिका है।

प्राण, ब्रहमाण्ड और पिण्ड (शरीर) दोनों में समान रूप से व्याप्त मूल तत्त्व है। इसी लिए हमारे देश के दार्शनिक यह कहते हैं कि जो हमारे पिण्ड में है, वही ब्रहमाण्ड में है। इसी लिए भौतिक जगत से लेकर आध्यात्मिक जगत तक प्राण वायु की मान्यता है। प्राण के विषय में हमारे ऋषि-मुनियों ने जितना विस्तृत और गम्भीर चिन्तन किया था, उतना किसी अन्य देश के दार्शनिकों ने नहीं किया है। सच तो यह है कि प्राणोपासना की विद्या हमारी अपनी सम्पत्ति है। प्राण के वास्तविक महत्त्व को समझना, शरीर तथा बाह्य जगत् में इसके कार्य तथा व्यापक प्रभाव को परखना और देवता विशेषों का इसमें आरोप कर उपासना करना, ये सब सिद्धान्त हमारे पूर्वजों की बुद्धि से प्राचीन काल में उत्पन्न हुए थे। इसके प्रमाण में हम संसार की सबसे पुरानी पुस्तक "ऋग्वेद" का आगे लिखा मंत्र प्रस्तुत करते है :-

"अपश्यं गोपामानिपद्यमान माच पराच पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रिचिः स विषूचीर्वसान आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ।। "

इस मन्त्र का अर्थ करते हुए सायणाचार्य लिखते है कि इस मंत्र के द्रष्टा दीर्घतमा ऋषि कह रहे है कि मैंने प्राण को देखा है अर्थात साक्षात्कार किया है। वह प्राण सब इन्द्रियों का गोपा (रक्षक) है। वह भिन्न- भिन्न मार्गों (नाड़ियों) द्वारा आता और जाता है। यह प्राण शरीर में अध्यात्म रीति से वायु के रूप में और अधिदैव के रूप में सूर्य है।

ऋग्वेद के अन्य मंत्र में कहा गया है कि :-

"अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।

अर्थात् यह प्राण स्वधा (अन्न) के द्वारा ही स्थित है। यह मल-मूत्रादि निकालने के लिए अधोभाग में संचरण करता है। ~~प्राण अमर्त्य~~ तथा श्वास के लिए ऊर्ध्व भाग में आता जाता है। प्राण अमर्त्य (मृत्यु रहित) है, परन्तु मरणधर्मा शरीर के साथ सदा एक स्थान पर निवास करता है। शरीर और प्राण परस्पर विरुद्ध हैं। क्योंकि मृत होने पर शरीर पृथ्वी पर गिर पड़ता है, परन्तु प्राण किसी दूसरे लोक में चलाजाताहै।

इस मंत्र में प्राणवायु और अपानवायु की ओर संकेत किया गया है और यह भी बताया गया है कि प्राण के बिना शरीर का कोई महत्व नहीं है ।

अथर्ववेद में प्राण और वायु को एकरूप मानते हुये कहा गया है कि :-

"प्राणमाहुंर्मातरिश्वं वातो ह प्राण उच्यते ।
प्राणे है भूत भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।। "

अर्थात प्राण को ही ॥ "मातारिश्वा" कहते है और वायु ही प्राण कहलाता है । भूत, भविष्यत और वर्तमान सब कुछ प्राण में ही रहता है ।

प्राणों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी हमें वैदिक साहित्य में कुछ संकेत मिलते हैं । कुछ उपषिदों की मान्यता है कि आकाश से वायु ॥प्राण॥ उत्पन्न हुई है । इसके वितरित "बृहदारण्यक" उपनिषद् में लिखा मिलता है कि आत्मा ॥परमात्मा॥ से प्राण उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार अग्नि के स्फुलिंगों ॥पतंगें॥ से छोटे-छोटे स्फुलिंग पैदा होते हैं । "केन" उपनिषद् के अनुसार प्राण को परब्रहम से ही श्वास उच्छ्वास की शक्ति प्राप्त होती है और उसी की प्रेरणा से जन्म से ही गति प्राप्त करता है । इसी उपनिषद् में भूः, भुवः और स्वः इन तीन महा व्याहृतियों को प्राणों से जोड़ते हुए कहा गया है कि प्राण का भूः से, अपान का सम्बन्ध भुवः से और व्यान का सम्बन्ध स्वः से है । छान्दोग्य" उपनिषद् प्राणतत्व को अविज्ञात तत्व बताती है । क्योंकि इसके विषय में यह नहीं जाना जाता कि वह क्या है तथा कहाँ है' । वह अविज्ञात भाव से रक्षा करता है ।

शरीर में मुख्य प्राण की स्थिति कहाँ है । इस विषय में विवाद हो सकता है, किन्तु "सुबालोपनिषद"के अनुसार हृदय के बीच में जो लाल रंग का मांस पिण्ड है, उस में जो दहर ॥तालाब॥ है, वहाँ विकसित कमल में दस छिद्र हैं, इन्हीं में प्राण ठहरे हुए हैं । यदि हम दस दल ॥दस पंखुड़ियों वाला॥ कमल को प्राण का निवास स्थान मान लेते है, तो षट्चक्रों ॥मूलाधार चार दल, स्वाधिष्ठान षट्दल, मणिपूरक दस दल, अनाहत बारह दल, विशुद्ध सोलह दल और आज्ञा दो दल॥ के अनुसार प्राण का स्थान "मणिपूरक" चक्र में होना चाहिए । शरीर में इसका रंग भी लाल न होकर नीला बताया गया है और इसका लोक "स्वः" बताया है और इस लोक का सम्बन्ध "व्यान" नामक प्राणवायु से बताया गया है । हां तन्त्र ग्रन्थों में "अनाहत" चक्र का वर्णन करते हुए इसका स्थान हृदय, रंग लाल कहा गया है । परन्तु यह "दसदल" न होते हुए द्वादशदल

[बारह पंखुड़ियाँ] है। इस चक्र को तन्त्र ग्रन्थों में प्राणवायु का आधार और प्रसाद स्थान कहा गया है।

उपर्युक्त दोनों वितरित सन्दर्भों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पीछे लिखी गई उपनिषदों में तान्त्रिक प्रभाव आने लगा था।

"कौषितकि" उपनिषद से एक अन्य तथ्य भी उभर कर आता है कि उसके लिखने के समय "प्राण" और "आयु" शब्द समानार्थक समझे जाने लगे थे। प्राण और आयु को एक मान लेने पर प्राण का देहेन्द्रियों से सीधा सम्बन्ध हो जाता है। उपनिषदों में तो जीवात्मा और शरीर के सम्बन्ध में उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जीवात्मा रूपी बछड़े को अन्य पशुओं से बचाने के लिए प्राणरूपी खूँटे से बाँध दिया है और इस प्राणरूपी खूँटे की अन्नरूपी रस्सी है। इस उदाहरण में अन्नमयकोष और प्राणमय कोष का अटूट सम्बन्ध दर्शाया गया है।

देह [शरीर] के निमार्ण में वायु तत्व के अतिरिक्त पृथ्वीतत्व, आकाश तत्व, जल तत्व और अग्नितत्व भी भागीदार हैं। इसीलिए तो भारतीय समाज में शरीर के विषय में कहा जाता है कि 'पंचतत्व' का यह चोला है। इन पाँचों तत्वों में आयु और शरीर की दृष्टि से कौन सा तत्व प्रमुख माना जाना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर में हम आरण्यक और उपनिषद ग्रन्थों के उद्धरण से देना ठीक समझते है।

"ऐतरेय" नामक आरण्यक ग्रन्थ में प्राण के महत्व को प्रतिपादित करते हुए एक कथा इस प्रकार दी गई है :-

एक बार प्राण तथा शरीर की अन्य इन्द्रियों में परस्पर स्पर्धा चली कि हम में से उक्थ [श्रेष्ठ] कौन है। वे सब यह कह कर कि मैं ही उक्थ हूँ, परस्पर झगड़ने लगी। अन्त में सब इन्द्रियों ने परस्पर एक समझौता किया कि वे बारी-बारी से शरीर से निकल चलें। जिसके निकलने पर यह शरीर नष्ट हो जाए तथा गिर पड़े वहीं उक्थ [श्रेष्ठ] माना जाएगा। सब से पहिले वाग् [वाणी] इन्द्रिय निकल कर चली गई। उसके निकल जाने पर भी बिना बोले शरीर खाते-पीते टिका रहा। इसके बाद चक्षु [आँख] निकल गए, परन्तु देह बिना देखे और बिना बोले खाये-पीये टिकी रही। इसके बाद श्रवण [कान] इन्द्रिय की बारी आई और शरीर बिना बोले, बिना देखे और बिना सुने पूर्ववत् टिका रहा। मन के निकल जाने से भी शरीर बिना बोले, बिना देखे, बिना सुने मुँदे

(बन्द) हुए की तरह खाते-पीते टिका रहा । अन्त में प्राण के निकलने का समय आया और उसके निकलते ही खाते-पीते रहने वाला शरीर भूमि पर गिर पड़ा ।

इतना होने पर भी इन्द्रियों की "मैं श्रेष्ठ - मैं ज्येष्ठ" की भावना समाप्त नहीं हुई और श्रेष्ठता के सम्बन्ध में भ्रम ही बना रहा । इस भ्रम को मिटाने के लिये एक युक्ति निकाली गई कि जिस इन्द्रिय के प्रवेश से शरीर उठ खड़ा हो, वहीं उक्थ मानी जाएगी । इस निश्चय से जिस क्रम से इन्द्रियाँ निकली थी, इसी क्रम से प्रवेश की प्रक्रिया आरम्भ हुई । सब से पहले वाग् इन्द्रिय प्रविष्ट हुई, परन्तु शरीर उसी प्रकार पंगु रहा । इसके बाद क्रमशः चक्षु, श्रवण और मन भी प्रविष्ट हुए । परिणाम में "ढाक के तीन पात" मिले और शरीर ने उठने का नाम तक नहीं लिया । अन्त में प्राण ने प्रवेश किया और शरीर उठ खड़ा हुआ । अन्ततोगत्वा अन्य सब इन्द्रियों को प्राण की श्रेष्ठता माननी पड़ी ।

यही कथा "प्रश्नोपनिषद" में सामान्य अन्तर के साथ इस प्रकार कही गई है :-

पिप्पालद ऋषि ने जगत् को धारण करने वाले तत्वों का उल्लेख करते हुए बताया कि आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी एक दूसरे से विवाद करने लगे कि हम ही इस जगत् को धारण किए हुए है । सम्पूर्ण महाभूतों को झगड़ता हुआ देख कर प्राण ने कहा -शोर मत करो । मैं ही इस जगत् को धारण किए हूँ । प्राण के इस कथन के बाद पंच महाभूतों तथा पिण्ड (शरीर) की इन्द्रियों ने प्राण के प्रति अश्रद्धा प्रकट की । अश्रद्धा से दुखी होकर स्वाभिमान के कारण प्राण ऊपर को जाने लगा । प्राण के निकलने पर वे सब इन्द्रियाँ निकलने लगी और प्राण के रूक जाने पर सब रूक गई ।

आगे इसी सन्दर्भ में शहद की मक्खियों की "रानी मक्खी" से प्राण की और इन्द्रियों की उपमा शेष मक्खियों से देते हुवे कहा - जिस प्रकार मधुमक्खियों की "रानी मक्खी" के उड़ जाने पर समस्त मक्खियाँ उड़ जाती है, और उसके बैठने पर सभी मक्खियाँ बैठ जाती है, इसी प्रकार ब्रह्माण्ड के पंचमहाभूत तथा पिण्ड (शरीर) की पाँचों इन्द्रियाँ प्राण की स्तुति करने लगीं ।

"छान्दोग्य" उपनिषद् में इस सम्बन्ध में दी गई कथा में केवल इतना अन्तर कि सभी इन्द्रियाँ अपनी-अपनी श्रेष्ठता का निर्णय लेने के लिये ब्रह्मा के पास गई और ब्रह्मा ने कहा कि जिस इन्द्रिय के निकलने से सब इन्द्रियाँ व्याकुल और शरीरमृत वत् हो जाए, वही श्रेष्ठ है ।

उपर्युक्त कथाओं में से "एतरेय" आरण्यक की कथा अधिक सशक्त है । क्योंकि उपनिषदों की कथाओं में तो केवल प्राण के निकलते समय शरीर की अन्य इन्द्रियों के खिन्न तथा निर्जीव होने की घटना का वर्णन है, परन्तु "ऐतरेय" आरण्यक में प्राण के पुन: प्रवेश द्वारा गिरे हुए शरीर को खड़ा कर देने की योग्यता का भी उल्लेख है । प्राणों की महत्ता और श्रेष्ठता को इस आरण्यक में निर्गमन और आगमन दोनों ही मार्गों से सिद्ध किया है ।

सब इन्द्रियों में प्राणों की श्रेष्ठता सिद्ध होने पर इसकी उपासना का विधान भी वैदिक साहित्य में मिलता है । हमारे शास्त्रों में ब्रहमाण्ड और पिण्ड (शरीर) की एकता पर जोर दिया गया है । बाहर जो यह विशाल ब्रहमाण्ड नाना रूपों में हमारे सामने उपस्थित है, उसका एक छोटा प्रतिनिधि यह हमारा लघु शरीर है । अत: बाहर और भीतर सब स्थानों पर भिन्न - भिन्न रूप से एक ही तत्व इस मानस शरीर और विश्व के रूप में समभाव से व्याप्त दिखाई दे रहा है । ब्राह्य जगत् में जो संसार का पोषक आदित्य (सूर्य) है, वहीं प्राण रूप में शरीर में सब प्राणियों की स्थिति का कारण है । श्रुति साहित्य में प्रश्नोपनिषद् में ~~ब्रह्म~~ आदित्य और प्राण की एकता- प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि :-
"आदित्यो वै बाह्य प्राण उदयत्येष चाक्षुषं प्राणमनु गृहणीते ।"

अर्थात सूर्य बाह्य प्राण है और शरीर में वहीं भीतरी प्राण है ।

"ऐतरेय" आरण्यक के अनुसार प्राण ही की शक्ति से यह आकाश अपने स्थान पर स्थित है, उसी तरह समस्तजीव (हाथी से लेकर चींटी तक) प्राण के द्वारा धारण किए हुए हैं ।

प्राण सर्वत्र है । यह विश्व का धारक है और धारक होने के कारण रक्षक भी है । "ऐतरेय" आरण्यक के अनुसार प्राणपिता है और अन्तरिक्ष और वायु उसकी सन्तान है । जिस प्रकार पुत्र अपने पिता की सेवा किया करता है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष और वायुरूप पुत्र भी प्राण की सेवा में तत्पर रहते हैं ।

प्राण की उपासना के विषय में वैदिक साहित्य में कहा गया है कि प्राण की उपासना "अहोरात्र" (दिन रात) के रूप में कालात्मक है । दिन प्राणरूप है तथा रात्रि अपान रूप है । प्रात:काल प्राण इस शरीर में सब इन्द्रियों को अच्छी प्रकार फैला देता है । इसी

कारण दिन के आरम्भ काल को जिसमें प्राण का फैलाव हुआ है "प्रातः" कहते हैं। दिन के अन्त होने पर इन्द्रियों में संकोच [सिकुड़न] दीख पड़ता है। इसी कारण उस काल को "सायं" कहते हैं। विकास के कारण दिन प्राणरूप है और संकोच के कारण रात्रि अपान रूप है।

अन्त में इस विषय का उपसंहार करते हुए "ऐतरेय" आरण्यक का निम्न उद्धरण प्रस्तुत करते है :-

" सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषा
एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्। "

अर्थात जितनी ऋचाँए हैं, जितने वेद हैं और सब घोष [शब्द समूह] सब के सब प्राण रूप हैं।

अष्टांग योग में प्राणायाम का स्थान, परिभाषा और प्राण के भेद ।

भारत वर्ष में प्रचलित विभिन्न योग मार्गों के प्रवर्तकों ने साधना के अन्तिम छोर तक पहुँचने के लिए अनेक पग (Steps) बताए हैं । इन पगों को ही "अंग" नाम दिया गया है । प्रत्येक योग मार्ग के "अंगों" में संख्या और क्रम की दृष्टि से भिन्नता प्राप्त होती है । परन्तु आधुनिक समय में भारत में योग के नाम पर पतंजलि द्वारा लिखे गए आठ अंगों को ही बहुसंख्यक लोग प्रामाणिक मानते है । हम भी इसी परिपाटि का अनुसरण करते हुए यहाँ आठ अंगों में से आरम्भिक तीन अंगों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे प्राणायाम का विस्तृत वर्णन क्योंकि हमारा उद्देश्य प्राणायाम का महत्व बताना है । पतंजलि ने "योग दर्शन के साधना पादनामक खण्ड के एक सूत्र में निम्नलिखित आठ अंगों का नाम लिखा है :-

1- यम 2- नियम 3- आसन 4- प्राणायाम 5- प्रत्याहार
6- धारणा 7- ध्यान 8- समाधि ।

आगे चलकर "विभूतिपाद" नामक खण्ड में स्वयं पतंजलि ने इन आठ अंगों को "बहिरंग" (बाहर के अंग) और "अन्तरंग" (अन्दर के अंग) नामक दो भागों में बाँट दिया है । पतंजलि के अनुसार 1. यम 2. नियम 3. आसन, 4. प्राणायाम और 5. प्रत्याहार नामक पाँच अंग "बहिरंग" कहलाते है और 1. धारणा, 2. ध्यान, और 3. समाधि "अन्तरंग" हैं/आठों अंगों की "बहिरंगता" और (अन्तरंगता) का कारण यह है कि साधनीय जो सम्प्रज्ञात समाधि है उसका जो विषय है,. वही धारणा, ध्यान और समाधि का भी है । इसलिए समान विषय होने के कारण ये तीनों "सम्प्रज्ञात" समाधि (सबीज समाधि) के अन्दर के अंग (अन्तरंग) है । यम, नियम, आसन प्राणायाम और प्रत्याहार यद्यपि चित्त को निर्मल बनाकर इसे योग के लिए उपयोगी बनाते हैं तथापि समान विषय न होने से "बहिरंग" है ।

पतंजलि ने पुन: अन्तरंगों को भी "निर्बीज समाधि" के सन्दर्भ में "बहिरंग" कह दिया है क्योंकि ये "निर्बीज समाधि" के समान विषय वाले नहीं है । यहाँ पाठकों को यह बताना आवश्यक है कि सम्प्रज्ञात समाधि और सबीज समाधि दोनों ही समानार्थक होने से एक ही हैं । इसी प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि और निर्बीज समाधि भी समानार्थक होने के कारण एक ही है ।

उपर्युक्त जानकारी के पश्चात् प्रथम हम चार बहिरंगों का वर्णन प्रस्तुत करते हैं ।

1. यम:-

संसार के सुख और भोग के प्रति आकर्षित होना मनुष्य की जन्मजात कमजोरी है । इसी कमजोरी को दूर करने के लिये सर्वप्रथम पतजंलि मुनि ने "यम" नामक अंग को चुना है । योगशास्त्र में "यम" नाम पारिभाषिक है। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में विशेष रूप से धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थों में जहाँ योगविषयक अथवा व्यक्ति के उच्च चरित्र निर्माण के विषय में प्रसंग आते है वहाँ ॥यम॥ शब्द से निम्नलिखित पाँच शब्दों का ग्रहण होता है -अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ।

1. अहिंसा:- किसी प्राणी को मन, बचन और कर्म से शारीरिक और मानसिक कष्ट न पहुँचाना अहिंसा ॥ अहिंसा उसी समय पूर्ण मानी जाती है जबकि वह न तो "कृत" ॥स्वयं की गई ॥ हो, न ही "कारित" ॥किसी दूसरे के द्वारा करवाई गई ॥ हो और न ही "अनुमोदित " ॥स्वीकृति//सहमति से हो । अहिंसा का पूर्ण पालन करने वाले व्यक्तियों के सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक प्रकार के प्राणी अपना बैर भाव छोड़ देते है।

2. सत्य:- छल कपट से रहित होकर जैसा ग्रन्थों में पढा है, उसको उसी रूप में उद्धृत करना, जैसा देखा है, उसको उसी रूप में बताना और जैसा सुना है, उसको उसी रूप में कहना सत्य कहलाता है/ सत्य कहने और बोलने वाले से मनुष्य ॥साधक॥ की वाणी अमोघ ॥व्यर्थ न जाने वाली॥ हो जाती है । वह जो कुछ कह देता है, उसका फल अवश्य मिलता है ।

3. अस्तेय:- स्तेय चोरी को कहते हैं। उसका हर प्रकार से त्याग करना अस्तेय कहलाता है । जिस वस्तु पर किसी अन्य का वैधानिक अधिकार है, उसको अवैधानिक रूप से कभी ग्रहण न करे । दूसरे के धन को ललचाई नजरों से नहीं देखना देखें चाहिए। क्योंकि लालच से अन्य बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। चोरी परित्याग की भावना का समूल नाश हो जाने पर यह मेरा धन है, और यह पराया है, के विचार समाप्त हो जाते हैं। सब प्रकार की सम्पत्तियाँ का अपने पास रहना या दूसरी जगह रहने में कोई भेद नहीं रहता है । ऐसी स्थिति में उसे प्रत्येक प्रकार के रत्नों को अपना समझने में सबका कल्याण प्रतीत होता है ।

4. ब्रह्मचर्य:- कामवासनाओं से हर प्रकार बचते हुए प्रयत्नपूर्वक वीर्य की रक्षा करना ब्रह्मचर्य कहलाता है । ब्रह्मचर्य का पथ बड़ा कठिन है। जब तक देह है तब तक यौन की इच्छाओं को छोड़ना कोई सरल कार्य नहीं है । ब्रह्मचर्य के पालन के लिए ठीक प्रकार का खाना, अच्छी संगति में बैठना-उठना और सदाचरणपूर्वक रहना अत्यावश्यक है । ब्रह्मचर्य के पालन से अतुल शक्ति की प्राप्ति होती है ।

5. अपरिग्रह:- आवश्यकताओं से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना अपरिग्रह कहलाता है । योगी के लिए असाधारण भोजन प्राप्ति के लिए प्रयास करना परिग्रह भी

कोटि मे आता है। वर्षा, शीत और ताप आदि के बचाव के लिए साधारण झोपड़ी से भी काम चल सकता है, फिर योगी भव्य भवनों के लिए क्यों भटके। यह तो परिग्रह हो जाएगा। अपरिग्रह का आंशिक प्रयोग सामाजिक सुव्यवस्था की दृष्टि से भी प्रत्येक सद्गृहस्थ को भी करना चाहिए। पतंजलि के अनुसार अपरिग्रह, नामक यम का पालन करने से जन्म होने की कथाओं का ज्ञान हो जाता है।

उपर्युक्त यम के पाँचों विषयों में से चार विषयों [अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य] के फल के विषय में किसी प्रकार की उलझन नहीं आती। क्योंकि उनका परस्पर तालमेल दिखाई पड़ता है, परन्तु अपरिग्रह की आदत डालने से जो फल दिखाया गया है, उसका अपरिग्रह से तालमेल नहीं बैठता है। अनावश्यक वस्तुओं के संग्रह न करने का जन्मकथा से क्या सम्बन्ध है? यह जिज्ञासा स्वभावतः उभरती है और एक पहेली के रूप में खड़ी है। इसका उत्तर देना कठिन है।

1. नियम:- 1. शौच 2. सन्तोष, 3. तप, 4. स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियमों के विषय है।

1. शौच:- पद का अर्थ है शुद्धि अथवा पवित्रता है। इसके अन्तर्गत शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार की पवित्रता आती है। जल आदि से शरीर, वस्त्र और मकान आदि को स्वच्छ रखना तथा सात्त्विक भोजन से मन और सत्यभाषण से मन को शुद्ध रखना आदि इसी में आते हैं शौच की भावना से मनुष्य को अपने शरीर से लगाव नहीं रहता। क्योंकि वह नित्य प्रति देखता है कि वह शरीर की सफाई करने पर भी मलिन हो जाता है।

3. सन्तोष:- जीवन निर्वाह के लिए अपने पास जितने अपेक्षित साधन है, उन्हीं से सन्तुष्ट रहना सन्तोष है। योग मार्ग का पथिक जीभ के स्वाद और शरीर के लिए भोगों की सुविधाओं के जुगाड़ में नहीं रमता। सन्तोष के कारण योगी को उत्तम सुख और आनन्द की प्राप्ति होती है।

तप:- तप भी दो प्रकार का है एक देह सम्बन्धी तथा दूसरा मन सम्बन्धी। भूख-प्यास, सरदी-गरमी आदि का सहन करना शरीर का तप है। मान-अपमान, जय-पराजय, दुख-सुख और बदले की भावना को दबाना मानसिक तप है। तप से द्वन्द्वों को सहन करने की शक्ति प्राप्त होती है।

4. स्वाध्याय:-योगाभ्यास में गहरी पैठ बनाने के लिए उससे सम्बन्धित साहित्य का लगातार पढ़ना स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय से चिन्तन की शक्ति बढ़ती है और समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और श्रेष्ठ पुरुषों का समागम होता है

5. ईश्वर प्रणिधान :-

सोते-जागते, उठते-बैठते और खाते-पीते सदा ईश्वर को स्मरण रखना चाहिए। ईश्वर के चिन्तन से योगी अविद्या आदि क्लेशों से छुट कर जीवन-

मुक्त होकर देह त्याग के बाद अमृतपद का भागी हो जाता है । ईश्वर चिन्तन के विषय में पतंजलि ने प्रणव (ओउम्) की उपासना करना लिखा है । क्योंकि 'प्रणव' ईश्वर का ही वाचक है । सर्वात्मना अपने आप को ईश्वर के समर्पण करने से समाधि में सिद्धि प्राप्त होती है ।

यम और नियम को हम क्रमशः सामाजिक उन्नति और व्यक्तिगत उन्नति "इन दो श्रेणियों में बॉट सकते है " "यम" सामाजिक व्यवस्था और परस्पर व्यवहार का मूल मन्त्र है, तो (नियम) व्यक्तिगत श्रेष्ठ गुणों का प्रतिनिधित्व करता है । "यम" और (नियम) में कौन सा श्रेष्ठ है, इसका उत्तर भी हमें मनुस्मृति नामक ग्रन्थ से मिल जाता है । इस ग्रन्थ में कहा गया है कि जो व्यक्ति "यमों को छोड़कर केवल" नियमों का पालन करता है, उसके "नियम" कभी भी सफल नहीं होते । इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति की श्रेष्ठता की अपेक्षा सामाजिक श्रेष्ठता उत्तम होती है ।

3. आसन :- योग का तीसरा अंग "आसन" है/आसन की परिभाषा में कहा गया है कि आसन ऐसा होना चाहिए, जिससे योगी स्थिरतापूर्वक सुख से बैठ सके । पतंजलि ने इस सम्बन्ध में एक ही सूत्र लिखा है । आसनों के सम्बन्ध में हठयोग की पुस्तकों में विस्तृत चर्चा मिलती है । एक सूत्र वाला योग का "आसन" नामक अंग योग के क्षेत्र में इतना प्रभावशाली हो गया है कि सामान्य लोग केवल "आसन" को ही (योग) मानने लगे है । आसन सिद्ध हो जाने पर योगी सुख-दुख, गरमी-सरदी, भूख-प्यास को सहन करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। और आगे आने वाले प्राणायाम नामक अंग का ~~सहयोगी होता है~~ । को करने में समर्थ हो जाता है।

प्राणायाम:-

योग साधना में प्राणायाम का विशेष महत्व है, क्योंकि मन को काबू में करने के लिए प्राणायाम का अभ्यास अति उत्तम माना जाता है । जिस प्रकार दौड़ते हुए घोड़े को लगाम द्वारा नियन्त्रित किया जाता है, ठीक इसी प्रकार मन की चंचलता, को भी प्राणायाम की लगाम से रोका जा सकता है । मन के नियन्त्रण से इन्द्रियों का नियन्त्रण भी अपने आप हो जाता है, क्योंकि मन ही इन्द्रियों को चलाने वाला है ।

पतंजलि के अनुसार योग के आठ अंगों में से प्राणायाम का चौथा स्थान है । यह अंग इतना महत्वपूर्ण माना जाता है कि 'योगशिखोपनिषद्' में प्राण और अपान समायोग को ही योग मान लिया गया है । प्राणायाम की उपयोगिता केवल योगी जनों के लिए ही नहीं है, अपितु सामान्य व्यक्तियों के लिए भी यह अत्यन्त उपयोगी और लाभकारी है । प्राणायाम का अभ्यास

योगियों के लिए मार्ग प्रशस्त कर उन्हें ईश्वर प्राप्ति के लक्ष्य की ओर अग्रसर करता है वहाँ जन साधारण दो प्राणायाम का अभ्यास शारीरिक और मानसिक आरोग्य और लम्बी आयु प्रदान करता है । प्राणायाम की प्रक्रिया द्वारा मनुष्य अपनी सम्पूर्ण आयु को विकारों को मिटाते हुए शरीर गत धातुओं और मलों को सम रखते हुए जठराग्नि को दीप्त करता है ।

भारतीय संस्कृति कर्मप्रधान है । कर्मों के अनुसार ही मनुष्य को अगला जन्म मिलता है, यह भावना प्रत्येक भारतीय के मन में धार किए हुए है । भारतीय धर्म शास्त्रों के अनुसार प्रत्येक प्राणी द्वारा किए शुभ-अशुभ कर्मों के आधार ही उसकी आयु की अवधि निश्चित होती है । जीवन से मृत्यु तक की काल सीमा को सांसारिक दृष्टि से जीवन अथवा आयु कहा जाता है । काल की इस सीमा में प्रत्येक प्राणी को श्वास और उच्छ्वास पूर्ण होते है उस जन्म में मुक्ति पा जाते है

अनेक प्राणियों की श्वासोच्छ्वास शक्ति अस्वस्थता, दीर्घकालीन रोग ग्रस्तता असंयमित जीवन मापन, इन्द्रिय लोलुपता, मानसिक विकृति आदि के कारण समय से पूर्व ही समाप्त हो जाती है । ऐसी स्थिति में असमय में ही उसे काल का ग्रास बनना पडता है । किन्तु प्राणायाम की वैज्ञानिक प्रक्रिया के सतत अभ्यास के द्वारा मनुष्य अपने श्वासोच्छ्वास की गति का नियमन कर सुदीर्घकाल तक अपनी सम्पूर्ण आयु का निरोग रहते हुए निराबाध रूप से उपभोग कर सकता है । वस्तुतः श्वासोच्छ्वास का नियन्त्रण ही सुदीर्घ आयु और स्वस्थ जीवन का आधार है । योगशास्त्र के अनुसार प्राणायाम वह हेतुभूत प्रक्रिया है जो श्वासोच्छ्वास नियमन रूपी कार्य का परिणाम को जन्म देती है । और जिससे निरोग दीर्घायुष्य रूप फल की प्राप्ति होती है ।

स्वामी विवेकानन्द की मान्यता के अनुसार श्वास इस शरीर रूपी यन्त्र की गति को नियम में रखने वाला चक्का (Fly wheel) है । किसी बड़े इंजन में हम देखते है कि वह चक्का ही सबसे पहिले घुमता है और इसके घुमने से दूसरे छोटे-छोटे बारीक पुर्जे चलने लगते है । और इस क्रम से अन्त में मशीन का Fly wheel (फलाई व्हील) श्वास है । इसी से शरीर के अंग-प्रत्यंग में हलचल पैदा होती है और सारे कल पुर्जे व्यवस्थित रूप में काम करते है । यहाँ विवेकानन्द जी का श्वास के अभिप्राय मुख्य प्राण से है । जिसकी महिमा उपनिषदों में प्राप्त होती है इसी का अन्य नाम "प्राण शक्ति " भी है ।

स्वात्माराम ने "हठयोग प्रदीपिका" नामक पुस्तक में लिखा है प्राण और मन दूध और पानी की तरह परस्पर मिले हुए है । जहाँ प्राण जाता है वहाँ मन भी जाता है । और जहाँ मन जाता है, वहाँ प्राण भी मौज़ूद होता है उनमें से एक के रुक जाने से दूसरा भी रुक जाता है और एक के गतिशील होने पर

दूसरा भी गतिशील हो जाता है ।

परिभाषा:-

श्वास और उच्छ्वास मनुष्य की एक जन्मजात प्रक्रिया है । यदि सामान्य अवस्था में इस प्रक्रिया में रूकावट आ जाती है या किसी कारणवश श्वास और उच्छ्वास की क्रिया बन्द हो जाती है तो उसी समय मनुष्य की मृत्यु हो जाती है । परन्तु प्राणायाम की रीति इससे बिल्कुल उल्टी है अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति को प्रयत्न और अभ्यासपूर्वक रोक लेना ही प्राणायाम का सामान्य लक्षण है । पतंजलि ने भी योग सूत्रों में प्राणायाम की परिभाषा इसी प्रकार की दी है और लिखा है:-

"तस्मिन्सति श्वास प्रश्वास योगतिर्विच्छेद: प्राणायाम:।"

(तस्मिन्न सति) अर्थात् आसन के सिद्ध हो जाने पर (श्वास प्रश्वासयो:) सांस के लेने और छोड़ने में (गतिर्विच्छेद) का रूक जाना अथवा रोक देना अथवा अन्तर डाल देना (प्राणायाम:) प्राणायाम कहलाता है । उपर्युक्त आसन लगाकर जब साधक प्राणायाम करने के लिए बैठता है, तब बाहर के वायु को अन्दर खींच कर ले जाता है इस "श्वास" कहा जाता है । इसी प्रकार अन्दर कोठे के वायु को बाहर गहराई से निकालना "प्रश्वास" की परिभाषा में आता है । वैसे तो श्वास-प्रश्वास नियमित रूप में बिना रूकावट के सदा चलते रहते है, पर ऐसा चलना प्राणायाम का स्वरूप नहीं है । प्राणायाम तभी होता है, जब श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति में "विच्छेद" एक प्रकार की रूकावट या अन्तर डाला जाए । श्वास-प्रश्वास की गति को कभी रोका नहीं जा सकता, उसमें अन्तर डाला जा सकता है । प्राण रूक जाने पर तो जीवन समाप्त हो जाएगा । इसलिए प्राणायाम सम्बन्धी पतंजलि के सूत्र में (विच्छेद" शब्द का तात्पर्य गति में अन्तर डाल देना समझना चाहिए ।

"हठयोग प्रदीपिका" में स्वात्मारात्म ने प्राणायाम की परिभाषा देते हुए लिखा है कि :-

"प्राणस्य शरीरान्त: संचारियों आयमनं
निरोधानमायाम: प्राणायाम:।"

अर्थात् शरीर के अन्दर भ्रमण करने वाली प्राण वायु को रोकना ही प्राणायाम है । इस परिभाषा में श्वास-प्रश्वास शब्द का प्रयोग न करके शरीर में चलने वाली मुख्य वायु "प्राण" को ही आधार माना गया है ।

गोरक्षनाथ में प्राणायाम का लक्षण इस प्रकार दिया है :-

"प्राण: स्वदेहजीवायुराधामस्तन्निरोधानमिति । "

अर्थात् अपने देह के जीवन की अवस्था का नाम "प्राण) है और उस अवस्था के अवरोधन को प्राणायाम कहते है ।

पतंजलि ने अपने योग सूत्रों में प्राण शब्द का प्रयोग श्वास के अर्थ

में किया है जो प्राण का सर्वाधिक प्रचलित अर्थ है । "प्राण का आयाम." अर्थात् श्वास और प्रश्वास की वायु को वहीं रोक कर उसके रोकने के समय में वृद्धि करना ही प्राणायाम है । इसलिए कुछ विद्वानों के विचारों में "प्राण को " जहाँ का तहाँ रोक देना ही प्राणायाम कहलाता है । इस प्रकार प्राणायाम एक ऐसी क्रिया है जिसमें [प्राण] को रोक कर सम्पूर्ण शरीर की बाहरी और भीतरी एवं मानसिक क्रियाओं को नियन्त्रित किया जाता है ।

"योगी याज्ञवल्क्य" नामक पुस्तक में उपर्युक्त परिभाषाओं और लक्षणों से कुछ दूर हटकर प्राणायाम की परिभाषा इस प्रकार दी है :-

"प्राणाधान समायोग: प्राणायाम इतीरित: ।"

अर्थात् प्राण वायु और अपान वायु के मेल को प्राणायाम कहते है यह लक्षण हठयोग की लक्षण से मिलता जुलता है । हठयोग का लक्षण इस प्रकार से है :-

फेफड़ो में से "प्रश्वास" रूप से बाहर आने वाले वायु को "प्राण" और "ह" कहते हैं । उष्ण[गर्म] होने के कारण इसका नाम सूर्य भी है । बाहर से जो वायु श्वास रूप से भीतर फेफड़ों में खींचा जाता है, वह "अपान" और "ठ" है। शीतल होने के कारण इसे "चन्द्र" नाम भी देते है । इसी सूर्य और चन्द्र अर्थात् प्राण-अपान की क्रिया के नियमित संयोग को "हठयोग "कहते है ।

"प्राण" नामक मुख्य वायु जिसका नियन्त्रण [प्राणायाम] नाम से जाना जाता है, यह कार्यभेद से हमारे शरीर में दस भिन्न रूपों में मौजुद है। योगियों के अनुसार शरीर में इन दस रूपों वाली वायु का स्थान, नाम और कार्य इस प्रकार है :-

1. प्राण:- स्थिति- हृदय से लेकर नासिका पर्यन्त, शरीर के ऊपरी भाग में स्थित है ।

कार्य- श्वास का अन्दर ले जाना और बाहर निकालना नासिका और मुख द्वारा गति करना, खाये हुए अन्न को पचाना और अलग करना, अन्न पुरीष[टट्टी] पानी को पसीना और रस आदि को वीर्य बनाना प्राण वायु का कार्य है । ऊपरी इन्द्रियों का काम इसके आश्रित है ।

यह जीवन का आधार है। इसके बिना तीनों शरीर [स्थूल, सूक्ष्म और कारण] निष्क्रिय हैं। अत: इसे "प्राण देवता" के नाम से भी पुकारा जाता है । यह शरीर में बल बनाए रखता है । इसके कुछ समय तक स्थगित होने पर शरीर मरणासन्न हो जाता है । इसके ठीक कार्य करने से मनुष्य स्वस्थ रहता है । इसके कुपित होने पर अनेकानेक रोगों की उत्पत्ति हो जाती है । प्राणायाम से इस पर नियन्त्रण किया जा सकता है । अत: विधिपूर्वक प्राणायाम करने वाले मनुष्य अधिक शक्ति वाले होते है । छाती पर पत्थर तोड़ना, ट्रक अथवा हाथी को छाती के उपर से उतारना और कारों को रोकना इसी के बल पर होता है । प्राणायाम प्राणों का व्यायाम है, इससे ... आदि रोग नहीं होते । प्राणायाम करने से

रक्त शुद्ध और तरल बना रहता है । इससे शरीर की धमनियों में रक्त का संचार ठीक प्रकार से होता है । यह मुख्य प्राण ही अन्य प्राणों का संचालन करता है । इसका मुख्य कार्य हृदय से रक्त का प्रक्षेपण और संचार करना है । हृदय की धड़कन इसी मुख्य प्राण का कार्य है । इसके कुपित हो जाने से रक्त घट या बढ़ जाता है । इसकी गति जीवन पर्यन्त नहीं रुकती। इसके निकलने से मृत्यु हो जाती है ।

2. अपान:- स्थिति - नाभि से लेकर पादतल पर्यन्त स्थित है ।

कार्य:- गुदा से मल, उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) से मूत्र और अंडकोश से वीर्य निकालना, गर्भ आदि को नीचे ले आना, कमर, घुटनों और जाँघ के काम इसके आश्रित अधीन है । निचली इन्द्रियों का काम इसके अधीन है ।

प्रश्नोपनिषद में इसका स्थान पायु (गुदा) तथा उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) में बताया गया है । भारतीय हठयोगी मणिपूर, स्वाधिष्ठान और मूलाधार आदि चक्रों भी अपान के अन्तर्गत मानते है । कुण्डलिनी शक्ति का निवास स्थान भी अपान में ही है । यह गुरुत्व लिए हुए है । रज और वीर्य का विसर्जन करना भी इसका कार्य है "। इस प्राण में बुद्धि और चित में अतीन्द्रिय पदार्थ का साक्षात्कार करने की योग्यता है । इसके द्वारा जो सुख शान्ति मिलती है, वह अनिर्वचनीय है। जागृत तथा स्वप्नावस्था में अपान प्राण प्रचण्ड रूप धारण कर लेता है । तनाव तथा संघर्ष में भी इसकी गति तेज हो जाती है । इसी के कारण कामभाव के समय वासना उत्पन्न होती है । निद्रा और मूर्च्छा के समय इसकी गति समान रहती है । इसके कुपित होने पर गुर्दे, भग्न और गुदा सम्बन्धी अनेक रोग हो जाते है ।

3. समान:- स्थिति - देह के मध्य भाग में नाभि से हृदय तक स्थित है ।

कार्य - पचे हुए रस को सब अंगों और नाड़ियों में बराबर बाँटना इसका काम है ।

यह प्राण विभिन्न ग्रन्थियों में विभिन्न प्रकार के काम करता है । यदि यह काम करना बन्द करदे तो विभिन्न ग्रन्थियाँ काम करना बन्द कर देती है। (जैसे- यकृत (जिगर), आमाशय, पक्वाशय, प्लीहा (तिल्ली) छोटी-बड़ी आतें। इस द्वारा शरीर का रक्षण, संवर्धन और पोषण होता है । इससे मन और इन्द्रियाँ ठीक ढंग से कार्य करती है । काम, क्रोध, लोभ, ममता, मोह, भय की अवस्था में इसके आश्रित ग्रन्थियाँ अस्त-व्यस्त होकर विपरीत व्यवहार करने लगती है । परिणाम के रूप में जीवन भी दुखमय होने लगता है क्योंकि पाचन आदि क्रियाएँ ठीक ढंग से नहीं होने पाती है । भोजन की इच्छा से इसका पोषण होता है और मनुष्य शक्तिहीन हो जाता है । इसके कुपित होने से पीलिया हो जाता है क्योंकि यकृत (जिगर) में विकार उत्पन्न हो जाते हैं । आमाशय ठीक ढंग से कार्य नहीं करता। पाचन शक्ति कमजोर हो जाती है । परिणाम में भूख बन्द हो जाती है । कब्ज होना या दस्त होना समान वायु का विकार है । इसके विकृत होने से वीर्य का क्षय होता है और मनुष्य कान्तिमान और तेजोमय नहीं रहता। यह प्राण दिन-रात काम करता

जीवन पर्यन्त शरीर के साथ रहता है निन्द्रा और मूर्च्छा में इसकी गति समान रहती है।

व्यान :- स्थिति - इसकी स्थिति मुख्य रूप में उपस्थ॥ जननेन्द्रिय॥ के मूल के ऊपर है।

कार्य:- सारी स्थूल और सूक्ष्म नाड़ियों में गति करता हुआ शरीर के सब अंगों में रक्त- संचार करता है।

सर्वप्रथम मुख्य प्राण शरीर में प्रवेश करता है। यही मुख्य प्राण व्यान के रूप में समस्त शरीर में व्याप्त होकर ज्ञान का संचार तथा गति का प्रसार करता है। आकाश के बाद शरीर में व्यान वायु ही प्रवेश करता है। शरीर के विकास के साथ-साथ व्यान वायु का भी विकास होता है। जागृत अवस्था में यह ज्ञान का कारण होता है। साधना की अवस्था में व्यान की सामान्य गति रहती है। यही प्राण क्रोध के समय, मैथुन या लडाई के समय कुपित होकर शरीर को उत्तेजित करता है। यह उत्तेजित अवस्था में बुद्धि और मन में चंचलता उत्पन्न करता है।

5. उदान:- स्थिति-कण्ठ में रहता हुआ सिर पर्यन्त गति करता है।

कार्य -शरीर को उठाये रखना इसका काम है। इसके द्वारा पिण्ड ॥शरीर॥ के प्राण का ब्रह्माण्ड के प्राण से सम्बन्ध है। उदान द्वारा ही मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से बाहर निकलना और सूक्ष्म शरीर के गुणों, कर्मों और संस्कारों के अनुसार गर्भ में प्रवेश होता है। योगी लोग इसके द्वारा स्थूल शरीर से निकलकर लोक-लोकान्तरों में घूम सकते है।

इस प्राण को सत्व, रज और तम भेद से तीन प्रकार का कहा जा सकता है। उदान श्वास और प्रश्वास को चौबीस घंटे बनाए रखता है। चेतना के साथ स्पर्श होने से अत्यन्त आनन्द की अनुभूति करता है। उस समय आनन्द ही आनन्द रहता है। कुछ अवस्थाओं में ॥युद्ध, मैथुन, पर्वतारोहण, दौड़ना आदि॥ इस प्राण का वेग तीव्र हो जाता है। शरीर के अन्य समस्त प्राण और उपप्राण भी इसके अधीन है। निद्रा तथा तन्द्रा के समय इस प्राण में शून्यता सी आ जाती है। यह वाणी को मधुर और रसीली बनाता है। थूक को बाहर निकालने और वमन करने का कार्य इसी से होता है। शरीर को उठाने तथा प्राण को हृदय में से ले जाकर मस्तिष्क तक ले जाने का कार्य यही करता है।

उपर्युक्त पाँच प्रमुख वायुओं ॥प्राणों॥ के बाद शेष बची पाँच वायुओं का कार्य इस प्रकार है :-

6. नाग :- इस वायु से उद्गार॥डकार॥ और छींकना आदि कार्य किये जाते है।

7. कूर्म :- इस वायु द्वारा पलकों का झपकना, भय आदि के समय मुड़ जाना आदि कार्य होते है।

8. कृकर अथवा कृकल यह वायु भूख प्यास आदि से सम्बन्धित है। इसी उत्पत्ति वायु, देवदत्त नाम से प्रसिद्ध आवश्यक है।

9. देवदत्त:- यह नींद, आलस्य आदि का कार्य करती है ।

10 धनंजय:- यह मृत्यु के बाद शरीर की फुलावट का कार्य करती है ।

उपर्युक्त वायुओं में से पहिले पाँच वायु मुख्य है और उनमें भी प्राण सबसे मुख्य है/ पिछले पाँच (अपान, व्यान, समान और उदान) चार प्राण इन्हीं के अन्तर्गत हैं । यहाँ यह बात भी स्मरणीय की योग के आठ अंगों में जहाँ-जहाँ "प्राणायाम" शब्द आता है, वहाँ प्राण शब्द से शरीर में व्याप्त प्रत्येक वायु का वाचक समझना चाहिए ।

प्राणायाम का निरन्तर अभ्यास करने से क्या लाभ होते हैं?, इस विषय में पतंजलि ने राजयोग (चित्त के व्यापार पर अंकुश लगाना) की दृष्टि से विचार करते हुए लिखा है कि इसके अभ्यास से वे स्थितियाँ और कर्म क्षीण (दुर्बल) हो जाते हैं जो कि विवेक ज्ञान पर परदा डाले हुए है । कर्मों के संस्कार और अविद्यादि क्लेश ही ज्ञान का आवरण करने वाले है । प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से कर्मों के संस्कार और अविद्यादि क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) शनैः शनैः क्षीण हो जाते है । इससे साधक का ज्ञान सूर्य की भाँति प्रकाशित हो जाता है और धारणा-ध्यान आदि के क्षेत्र में मन लगने लगता है । इस प्रकार प्राणायाम से प्राणादि पाँच वायु, रक्तादि सात धातुओं पंचों ज्ञानेन्द्रियों और मन, बुद्धि, चित्त और (अन्तकरण चतुष्टय) के विकारों का नाश हो जाता है ।

श्वासोपयोगी अंग और प्राणायाम

भारतीय मान्यताओं के अनुसार हमने इससे पूर्व शरीर की स्थिति और संवर्धन के सन्दर्भ में पाँचों मुख्य प्राणों की उपयोगिता को संक्षिप्त रूप में दर्शाने का प्रयास किया है। आगे हम पाश्चात्य विचारकों के उन विचारों को जानने का प्रयास करेंगें जो कि श्वास प्रक्रिया के सम्बन्ध में बड़े महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। पाश्चात्य शरीर विज्ञानियों की दृष्टि में वायु का भीतर जाना और बाहर आना "दबाव परिवर्तन" (Pressure Change) के कारण होता है।

इस संसार में प्रत्येक पदार्थ के निर्माण में उपादानकारण, निमित्त कारण और साधारण कारण नाम के तीन कारण होते है, ठीक इसी प्रकार श्वास लेने में भी पसलियों में स्थित मांसपेशियाँ (Intercostal-muscles) (फेफड़े) (Lungs) (स्कन्धफलक) (Shoulder Blades) और मध्यच्छदा पेशी (Diaphragms) ये चार श्वास लेने के कारण हैं। कुछ लोग स्कन्धफलक को अंसफलक नाम से भी सम्बोधित करते हैं। पसलियों में स्थित मांसपेशियों के फैलने, कन्धो के फालों के ऊपर उठने और मध्यच्छदापेशी के नीचे जाने से फेफड़ों का विस्तार होकर उनमें अल्प दबाव (Negative Pressure) बन जाता है जबकि बाहरी वातावरण में वायु का दबाव उँच्च् रहता है। वायु उच्च दबाव से अल्प दबाव की ओर कमी पूर्ति के लिये फेफड़ों में आता है। बस इसी क्रिया का नाम "श्वास" लेना है।

बाहर की वायु भीतर फेफड़ों में आने के बाद भीतर दबाव बढ जाता है। इससे पसलियाँ और मध्यच्छदापेशी सिकुड़ने लगती है। इनके सिकुड़ने से फेफड़े सिकुड़ने लगते है। इनका आयतन (विस्तार) कम होने से उनके भीतर वायु का दबाव और अधिक बढ़ जाता है। भीतर का दबाव बाहरी वातावरण से अधिक होने से वायु भीतर से बाहर आने लगता है। इस प्रक्रिया को प्रश्वास कहते है।

श्वास-प्रश्वास की इस सामान्य प्रक्रिया से प्राणायाम नितान्त भिन्न है। श्वास-प्रश्वास की सामान्य प्रक्रिया में प्रयत्नपूर्वक स्वेच्छा से बाधा डालना प्राणायाम का मुख्य उद्देश्य है। पाश्चात्य शरीर विज्ञानियों ने श्वास - प्रश्वास को नियन्त्रित करने के कुछ तत्व इस प्रकार बताये है।

1. श्वसन केन्द्र ( )
2. भार-संग्राहक ( )
3. विस्तारक-संग्राहक ( )
4. संकोची -संग्राहक ( )
5. दाबी-संग्राहक ( )
6. रसायन-संग्राहक ( )

उपर्युक्त छह तत्वों में श्वसन केन्द्र । Respiratory centre सुषुम्ना शीर्ष । medulla oblongata । में स्थित है और इसे प्रयुक्त है । शेष तत्व इसे नियन्त्रित करते है । "भार संग्राहक" फेफड़ों में होते है जो फेफड़ों में भरी हुई वायु के दबाव की सूचना मस्तिष्क को भेजते रहते हैं । इसी प्रकार संकोची संग्राहक भी फेफड़ों के सिकुड़न की सूचना मस्तिष्क को भेजते रहते है । इस प्रकार का विस्तारक संग्राहक भी फेफड़ों में स्थित है और विस्तार की सूचना मस्तिष्क को प्रेषित करते रहते है । दाबी संग्राहक भी दबाव की सूचना मस्तिष्क को भी भेजते है । रसायन संग्राहकों "केरोटिड सीनस" और रक्त में स्थित है जो आक्सीजन की कमी और कार्बनडाइआक्साईड की अधिकता को माप कर उसके सन्देश मस्तिष्क को भेजते है । श्वास सम्बन्धी इस सामान्य जानकारी के बाद प्राणायाम के अधिकारी आदि विषयों पर चर्चा करना उपयुक्त होगा ।

प्राणायाम के अधिकारी, समय और अभ्यास :-

जिन साधकों ने "यम" और "नियम" का पालन करते हुए अपने आपको सामाजिक और व्यक्तिगत रूप में सदाचारी बना लिया है और आसनों का अभ्यास करके नाड़ी समूह को मृदु बना लिया है, वेही साधक प्राणायाम अभ्यास के अधिकारी है । प्राणायाम अभ्यास के अधिकारी भी ब्रह्मचारी, गृहस्थ और योगी भेद से तीन प्रकार के कहे जा सकते है । ब्रह्मचारी को प्राणायाम का अभ्यास उसी सीमा तक करना चाहिए, जिस सीमा तक उसकी दैनिक चर्या और स्वाध्याय और भिक्षाटन में किसी प्रकार की बाधा न पड़े । यदि वह आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए "केवली योगी " बनने की ईच्छा रखता है, तो वह योगियों के लिए कथित प्राणायाम के नियमों का पालन करते हुए प्राणायाम को अधिक समय तक कर सकता है । गृहस्थी अधिकारी प्राणायाम का अभ्यास इसलिए करता है कि जिससे वह गृहस्थ जीवन में धर्मग्रन्थों द्वारा निर्देशित समय और तिथियों में स्त्रीसंग करने की योग्यता प्राप्त कर सके । और शारीरिक बल स्थिर रखते हुए बुद्धि और दैनिक जीवन आदि के कार्य उत्साहपूर्वक कर सके । इसके अतिरिक्त वह गृहस्थ जीवन में विपरीत खान-पान के कारण होने वाली बिमारियों से भी बच सके । यही कारण है कि वह केवल उन्हीं प्राणायामों को करना पसन्द करता है जो कि गृहस्थ जीवन-चर्या में बाधक न हों । गृहस्थी के प्राणायाम अभ्यास का समय ब्रह्मचारी के प्राणायाम अभ्यास के समय से कम होता है । योगी के लिए प्राणायाम अभ्यास का समय ब्रह्मचारी और गृहस्थी दोनों के अभ्यास समय से बहुत अधिक होता है । वह तो पतंजलि द्वारा कथित "धारणासु योग्यता" अर्थात धारणा, ध्यान और समाधि सिद्धि के लिए ही प्राणायामका निरन्तर अभ्यास करता है । उसके सम्मुख "कैवल्य" है और उसी की प्राप्ति इसका उद्देश्य है ।

प्रश्न प्राणायाम का अभ्यास करने के लिए योग सम्बन्धित ग्रन्थों में बसन्त और शरद् ऋतुओं को अत्यधिक अनुकूल बताया गया है। इन्हीं दो ऋतुओं को चिकित्सा जगत में "स्वास्थ्य कारक" ऋतुएँ माना गया है। शेष ऋतुओं में विघ्न आने की सम्भावना रहती है। बसन्त ऋतु में स्वाभाविक ही शरीर के अन्दर रहने वाला कफ प्रकुपित होकर बाहर निकलने लगता है। और शरद् ऋतु में पित्त प्रकोप होता है। इससे कफदोष शीघ्र जल जाता है। इसलिए ये दोनों ऋतुएँ हितकर हैं। असल में तो अपनी प्रकृति का विचार करके प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इसी प्रकार जिस देश या स्थान में स्वाभाविक नित्य कफ की वृद्धि होती हो, ऐसे देश या स्थान में रहकर योगाभ्यास नहीं करना चाहिए।

प्राणायाम के अभ्यास के लिए निर्वात, स्वच्छ, शान्त और उपद्रव रहित स्थान होना चाहिए। खुली हवा में प्राणायाम न करे। क्योंकि वायु के प्रचण्ड थपेड़े लगते रहेंगे और प्राणायाम के द्वारा निकलने वाला पसीना बाहर नहीं आ सकेगा। पसीना आने से ही नाड़ियों की शुद्धि होती है। इसी प्रकार तेल मसलकर भी प्राणायाम नहीं करना चाहिए। तेल मर्दन से नाड़ियों में स्थित मल दृढ़ हो जाता है। वह बाहर शीघ्र नहीं निकल सकता। प्राणायाम के समय जो पसीना आए, उसे शरीर पर ही मसल देना चाहिए। ऐसा करने से शरीर में से प्राणतत्व का निकलना रुक जाता है और शरीर भी मृदु बनता है। यह नियम केवल प्राणायाम के पसीने के विषय में ही है। अन्य प्रकार से आये हुए पसीने से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

भारत के प्राचीन ग्रन्थकारों ने प्राणायाम का अभ्यास दिन में चार बार प्रातःकाल, मध्याह्न काल, सांयकाल और अर्धरात्रिकाल के समय नियमपूर्वक करने का निर्देश दिया है। "हठयोग प्रदीपिका" में लिखा है कि प्रातःकाल अर्थात् अरुणोदय से लेकर सूर्योदय के तीन घड़ी (लगभग/लगभग साठ मिनट) दिन चढ़े तक मध्याह्न काल, सांयकाल अर्थात् सूर्यास्त से पूर्व और सूर्यास्त के बाद तीन घड़ी तक और मध्य रात्रि में चार बार शनैः शनैः अस्सी प्राणायाम करे। इस प्रकार चार बार में कुल तीन सौ बीस प्राणायाम करने चाहिए। ये तीन सौ बीस प्राणायाम उत्तम रीति से किए जाएँ तो इनमें छह घंटे तक का समय लगेगा। अतः अधिकारी भेद में इन प्राणायामों के समय और संख्या में छूट देने की बात भी साधक कहते है। इनकी मान्यता है कि गृहस्थी अपने जीवन की अत्यधिक व्यस्तता के कारण प्राणायाम का अभ्यास दिन में दो बार (प्रातः एवं सांय) कर सकता है। प्राणायाम की संख्या ऐसा करने से स्वयं ही घट जाएगी और एक सौ साठ ही रह जाएगी। समय की अनुपलब्धता के कारण गृहस्थी के लिए यह संख्या अस्सी तक भी हो सकती है। ब्रह्मचारी के लिए भी प्राणायाम का

का काल चार कालों की अपेक्षा त्रिकाल हो सकता है । मध्यरात्रि के समय में उसे प्राणायाम अभ्यास में छूट दी जा सकती है, जिससे वह स्वाध्याय के लिए अधिक समय निकाल सके । परन्तु उसके प्राणायामों की संख्या किसी भी रूप में कम नहीं होगी । क्योंकि वह "व्रती" है और उसे कठोरता एवं नियमपूर्वक व्रतों का अभ्यास करना है । त्रिकाल में जितने प्राणायाम करने चाहिए उसे अवश्य करने है । योगी के लिए किसी भी प्रकार की छूट का प्रावधान नहीं हो सकता ।

परिणाम की दृष्टि से "हठयोग" में तीन प्रकार का प्राणायाम बताया गया है :-

1. कनिष्ठ 2. मध्यम और 3. उत्तम । हठयोग के अनुसार कनिष्ठ प्राणायाम में स्वेद (पसीना) होता है, अर्थात् प्राणायाम करने पर पसीना आ जाए, तो उसे (कनिष्ठ) प्राणायाम समझना चाहिए। "मध्यम" प्राणायाम में कम्प होता है।, अर्थात् प्राणायाम करने पर शरीर में कम्पन हो जाए, तो उसे "मध्यम" प्राणायाम समझना चाहिए। "उत्तम" प्राणायाम में योगी ब्रह्मरंध्ररूप उत्तम स्थान को प्राप्त होता है, अर्थात् प्राणायाम करने पर प्राणवायु ब्रह्मरंध्र में पहुँच जाती है, तो यह "उत्तम" प्राणायाम है गोरक्ष ने भी तीनों प्राणायामों को बारह, चौबीस और छत्तीस मात्राओं वाला बताया है ।

लिंगपुराण में उपर्युक्त तीन प्रकारों के प्राणायाम के लक्षण इस प्रकार दिए है :-

प्राणायाम का प्रमाण द्वादश (बारह) मात्रा का होता है । प्राण वायु का एक बार उद्घात वाला बारह मात्रा का प्राणायाम नीच "कनिष्ठ" होता है । दो उद्घात वाला चौबीस मात्रा का प्राणायाम "मध्यम" होता है । और तीन उद्घात वाला छत्तीस मात्रा का प्राणायाम मुख्य (उत्तम) होता है ।

प्राणायामों में मात्राओं का प्रयोग इस प्रकार का होता है

1. निष्कृष्ण प्राणायाम	- पूरक	4 मात्रा कुम्भक	16, तथा रेचक	11
2. मध्यम प्राणायाम	- पूरक	8	" 32	16
3. उत्तम प्राणायाम	- पूरक	16	" 64	32

इसमें क्रमशः प्रस्वेद (पसीना) कम्पन और उत्थान होता है । इन प्राणायामों में आनन्द, निद्रा (खुमारी) और घूम (चित्त का उत्थान) होता है । जब योगी रोमांच ध्वनि (अनाहत ध्वनि) का ज्ञान, अंग का मोटन (अंग), कम्पन, भ्रम, स्वेद (पसीना) जल्पादि (बोलना) की संवित (ज्ञान) और मूर्च्छा आदि को जीत लेता है, तो प्राणायाम उत्तम बतलाया गया है ।

उपर्युक्त वाक्य खण्ड में प्राणायाम के सम्बन्ध में "उद्घात और "मात्रा" ये दो शब्द ऐसे है, जिनको समझना आवश्यक है । क्योंकि इनके ज्ञान के बिना "लिंग पुराण

[illegible]

[illegible] 14.10.20[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

के प्राणायाम को समझना कठिन होगा। "उद्घात की व्याख्या यह है कि ऊपर की ओर गए हुए प्राण के द्वारा जब अपान पीड़ित होता है और ऊपर गया प्राण जब पुनः ताड़ित होता है तो उसे "उद्घात" कहते है ।

मात्रा के सम्बन्ध में यह कहना है कि अंगूठे और मध्यमा (बीच की अंगुलि) का तीन बार बजाना (चुटकी मारना) , तीन बार घुटने पर हाथ फेरना और तीन बार ताली बजाना, "मात्रा" कही जाती है ।

प्राणायाम की एक मात्रा के विषय में (स्कन्द पुराण) कहता है कि एक श्वास की जो मात्रा है, यह प्राणायाम कहलाती है । "योगचिन्तामणि" नामक ग्रन्थ में लिखा है कि सोते हुए मनुष्य की एक सांस जितने समय में आती है और जाती है, उतना समय प्राणायाम की एक मात्रा का है ।

"हठयोग प्रदीपिका" के टीकाकार ब्रह्मानन्द लिखते है कि साढे बारह श्वास के काल को प्राणायाम का काल कहते है । यह श्वास का एक पल होता हैं ।

अभ्यास की दृष्टि से "युक्त" और अयुक्त दो प्रकार का प्राणायाम होता है । प्राणायाम से पूर्व और पश्चात युक्त आहार-विहार का विधिवत् सेवन करना तथा जालन्धरबन्ध, उड्डियान बन्ध और मूलबन्ध इन तीनों की युक्तिपूर्वक विधि से जो प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है, वह "युक्त" प्राणायाम होता है । इसके विपरीत (अयुक्त) प्राणायाम होता है । विधिपूर्वक "युक्त" प्राणायाम करने से शरीर के दोषों का क्षय हो जाता है और "अयुक्त" प्राणायाम के अभ्यास से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते है । "अयुक्त " प्राणायाम से शरीर की हानि न होने पाए, इसके लिए प्राणायाम का अभ्यास करने से पूर्व गुरु का धारण करना अनिवार्य है ।

~~अतःअत~~ इस शरीर रूपी घर में नौ द्वार (दो नेत्र , दो नासिका, के छिद्र, दो कान, मुख, गुदा और मूत्रेन्द्रिय) हैं । इन नौ में से दो नासिका के छेद प्राणवायु के कारण और गुदा अपान वायु का कारण है । नाभि से ऊपर के शरीर के भाग में प्राणवायु बलवती है । और नाभि से नीचे अपान वायु का प्रभुत्व है इस तकनीकी क्रिया की सम्पूर्ण जानकारी गुरु द्वारा ही सीखी और प्राप्त की जाती है । प्राणायाम के विषय में ~~सन्देह~~ संशय होने पर गुरु की शरण में ही जाना पडता है ।

प्राणायाम का महत्व :-

प्राणायाम के माध्यम से जो साधक प्राण को वश में कर लेता है , वह सिद्ध, हो जाता है और जगत् में किसी भी दृश्य या अदृश्य पदार्थ या प्राणी के वश में नहीं रहता/और स्वामी विवेकानन्द ने प्राणायाम की सिद्धि के विषय में "राजयोग" नामक पुस्तक में इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त इस प्रकार दिया है :-

किसी बड़े राजा का एक मन्त्री था। उससे कोई निन्दित कार्य हो

गया । राजा ने उसे दण्ड के रूप में किसी ऊँची बुर्ज के शिखर पर कैद कर देने की आज्ञा दे दी । अधिकारियों ने वही किया और मन्त्री को वहाँ ले जा कर मृत्यु के मुख में छोड़ दिया । मंत्री की पत्नी बड़ी पतिव्रता थी । वह रात को बुर्ज के नीचे आई और वहाँ पर बैठे अपने पति को पुकार कर कहा कि क्या मैं आपकी किसी प्रकार से सहायता कर सकती हूँ। पति ने कहा कि अभी तो जाओ, कल इसी समय फिर आना और अपने साथ एक लम्बा मोटा रस्सा, थोड़ी सी मजबूत पतली रस्सी, थोड़ा पक्का सूती धागा, कुछ रेशमी धागा एक कीड़ा और थोड़ा सा शहद लेते आना । उस साध्वी स्त्री ने पहिले तो बड़ा आश्चर्य किया कि स्वामी इन सब चीजों का क्या करेंगे ! किन्तु फिर उनकी आज्ञा मान कर वैसा ही किया और दूसरे दिन सब सामान ले आई ।

स्वामी ने उससे कहा कि रेशमी-धागे को कीड़े के पैरों में मजबूती से बांध दो और उसके मुँह के पास के सींग जैसे हिस्से में शहद चुपड़ दो । फिर उसे बुर्ज की दिवार पर ऊपर सिर करके छोड़ दो । सभी ने ऐसा ही किया और कीड़ा ऊपर की ओर चलने लगा । उसे अपने आगे की ओर से जो शहद की गन्ध आ रही थी, इसी से आकृष्ट होकर, वह शहद पाने की आशा में धीरे-धीरे ऊपर चढ़ने लगा और थोड़ी देर में शिखर पर पहूँच गया । मंत्री ने उसे पकड़ कर रेशमी धागा हस्तगत कर लिया । तब उसने अपनी स्त्री से कहा कि इसके दूसरे छोर को सूती धागे से बाँध दो और इस रीति से मन्त्री ने सूती धागा ऊपर खींच लिया । इसके बाद उसने इसी विधि से सूती धागे द्वारा पतली रस्सी को खींचा और अन्त में उसके सहारे मोटे रस्से को प्राप्त कर लिया । बाकी काम आसानी से हो गया । मंत्री रस्से के सहारे नीचे उतर आया और भाग गया ।

इसी दृष्टान्त को हमारे शरीर पर घटाने से मालूम होगा कि हमारे शरीर में जो प्राणवायु की गति हो रही है, वही रेशमी धागा है । इस श्वास रूपी रेशमी धागे को पकड़ कर अपने अधीन कर लेने से हम नाड़ी प्रवाह रूप मोटे डोरे को पकड़ लेते है । इसके सहारे हम अपने विचार रूपी पतली रस्सी को और अन्त में प्राणा रूपी मोटे रस्से को हस्तगत करके जरा (बुढ़ापा) व्याधि (बिमारी) रूप ऊंचे बुर्ज से नीचे उतर कर मुक्त हो जाते हैं ।

प्राणायाम की उपयोगिता, महत्ता एवं प्रशंसा में हमारे प्राचीन ग्रन्थों में बहुत कुछ लिखा मिलता है । "मनुस्मृति" नामक ग्रन्थ में बताया गया है कि यदि किसी यति, तपस्वी से दिन या रात में अज्ञान के कारण किन्हीं प्राणियों को कोई कष्ट पहुँच जाता है, तो उसके

प्रायश्चित में स्नान आदि द्वारा शुद्ध होकर छह प्राणायाम अवश्य करें। इससे प्राणियों की पीड़ा उत्पन्न देने वाले पापों का नाश होता है। जिस प्रकार सोना, चांदी आदि धातुओं के मल अग्नि से तपाये जाने पर दग्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार इन्द्रियों के दोष प्राणायाम से दग्ध होजाते हैं। प्राणायामों के अनुष्ठान से राग, द्वेष, मद, मात्सर्य आदि दोषों को दग्ध करना, चाहिए। अन्त में "मनुस्मृति" में कहा गया है कि ब्रह्मज्ञान निमित्त अध्यात्म मार्ग पर चलने वालों के लिये प्राणायाम परम तप है। ~~प्राणायाम और दीर्घ सांस~~

§ §

प्राणायाम और दीर्घ श्वसन में क्या अन्तर है, इसको जानना भी आवश्यक है। क्योंकि कुछ नौसिखये दीर्घ श्वास को प्राणायाम मान कर लम्बे-लम्बे सांस लेकर शरीर के सम्बन्ध में अपने कर्तव्य को भूला बैठे हैं। हम यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए कतिपय अन्तर लिख रहे हैं।

1- प्राणायाम निश्चित अनुपात और मन को सचेष्ट करके योजनाबद्ध तरीके से किये जाते हैं। अनुपात और मन की सचेष्टता इसलिये आवश्यक होती है कि प्राणायाम में शरीर के सबसे कोमल अवयवों (फेफड़े, हृदय और मस्तिष्क) पर प्रभाव पड़ता है। प्राणायाम प्राण की स्वाभाविक गति में रुकावट डाली जाती है। जबकि दीर्घ सांस में प्रयत्न विशेष अथवा योजना बद्धता की चेष्टा की इतनी आवश्यकता नहीं होती। दीर्घ श्वास में प्राण की गति सहज भाव से ही चलती है, उसे रोकने का प्रयत्न नहीं किया जाता।

2- दीर्घ सांस में फेफड़ों और वातावरण के मध्य होने वाला "वायु दबाव परिवर्तन" सामान्य श्वसन जैसा ही है। परन्तु, प्राणायाम में श्वास बाहर निकालकर कृत्रिम सांस लेने का स्वांग किया जाता है।

3- प्राणायाम द्वारा ~~सर्व~~ अनेक रोगों का ईलाज किया जा सकता है, लेकिन दीर्घ श्वास से यह सम्भव नहीं होता।

4- प्राणायाम में छाती, मध्यमच्छदा पेशी और श्रोणितल ये सब नियंत्रित रहते हैं, जबकि दीर्घ श्वसन में इन पर नियंत्रण नहीं रखा जाता।

5- दीर्घ श्वसन में बन्धों का प्रयोग नहीं किया जाता है, परन्तु प्राणायाम में बन्धों के प्रयोग श्वास-प्रश्वास को नियन्त्रित किया है।

6- प्राणायाम के आरम्भिक अभ्यास में योगियों के अनुसार

दूध और घी सहित भोजन करना श्रेष्ठ माना गया है, जबकि दीर्घ श्वसन में ऐसा कोई नियम नहीं है ।

7- प्राणायाम की विधि करने के बाद योगी को सावधानी पूर्वक आचरण और आहार आदि पर विशेष बल देना चाहिए जिससे शरीर में कोई बाधा उत्पन्न न हों, और शरीर पर दीर्घ श्वसन में ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है ।

8- प्राणायाम में पाँच-सात चक्रों के बाद रक्त में कार्बन-डाईआक्साईड गैस का दबाव बढ़ जाता है, जिसका नाड़ी मण्डल पर शान्त प्रभाव पड़ता है । दीर्घ श्वसन से आक्सीजन अधि मिल कर थकान का निवारण होता है ।

9- दीर्घ श्वसन में श्वास और रक्त का सन्तुलन समान रहता है । परन्तु प्राणायाम में फेफड़ों में रक्त की मात्रा अधिकतः आती है ।

10- प्राणायाम का उद्देश्य मन की चंचलता को शान्त करना है, जबकि दीर्घश्वसन का उद्देश्य स्वास्थ के लिए है ।

11- उत्तम प्राणायाम के बाद शान्ति के लिये शवासन करना होता है परन्तु दीर्घ श्वसन में ऐसा नहीं होता है ।

प्राणायाम से जितने लाभ है, दीर्घ श्वसन से उतने लाभ तो नहीं होते तथापि यह हमारे स्वास्थ के लिए लाभकारी है । इससे फेफड़ों के सभी प्रकोष्ठ सक्रिय होकर रक्त से कार्बन डाईआक्साईड का निष्कासन और आक्सीजन का ग्रहण करते है । इससे रक्त संचारण में भी वृद्धि होती हैं ।

प्राणायाम का शरीर पर प्रभाव :-

योग साधना का प्रमुख एवं एक मात्र आधार शरीर है। क्योंकि प्राण सहित सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और मन इसी तन में स्थित है । शरीर के माध्यम से ही साधक यौगिक क्रियाओं का अभ्यास करता है। अतः योगाभ्यास के लिए शरीर का स्वस्थ रहना परमावश्यक है । दार्शनिक दृष्टि से मानव का शरीर एक भौतिक संगठनात्मक द्रव्य है जो उत्पन्न होना, बढ़ना, क्षीण होना और नष्ट होना इन चार अवस्थाओं से गुजरता है । यह मानव शरीर हड्डियों का एक ऐसा ढाँचा है जो मांस और मेद से आवृत है । त्वचा (खाल) इसका बाह्य आवरण है, जो बाहरी आघातों, जाड़ा-गर्मी, और वर्षा आदि से रक्षा करती है । इस शरीर के त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) , सप्त धातु (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र), और मल (स्वेद, मूत्र पुरीष) मूल आधार है । वायु इसमें प्राण संचार करती है । इसी बात को आधार मानकर तैत्तिरीय उपनिषद में शरीर को तीन पंचको के रूप में इस प्रकार दर्शाया गया है:-

प्रथम पंचक - प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ।

द्वितीय पंचक- चक्षु, श्रोत, मन, वाक्, त्वक् ।

तृतीय पंचक - चर्म, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा ।

उपर्युक्त पंचकों का भी अभिप्राय यही है कि शरीर में प्राण और धातुओं का बड़ा महत्व है । त्रिदोष, धातु और मल में विकार उत्पन्न हो जाने पर शरीर अस्वस्थ हो जाता है । प्रत्येक प्रकार के कृत्यों चाहे वे सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक है, शरीर के स्वस्थ होने पर ही पूर्णता के साथ सम्पन्न हो सकते है । इसीलिए तो कहा जाता है कि शरीर माद्यं खलु "धर्म-साधनम्" अर्थात् प्रत्येक धर्म (कर्तव्य) के पालन के लिए शरीर का स्वस्थ होना प्रथम शर्त है । इसी की पूर्ति के लिए शरीर को बाहर और भीतर से विकार रहित रखने के लिए प्राणायाम की आवश्यकता है ।

आयुर्वेद के सन्दर्भ ग्रन्थों में भी शरीर की स्वस्थ अवस्था के लिए दोष साम्य और अस्वस्थ अवस्था के लिए दोष वैषम्य के अन्तर्गत वायु की प्रधानता मानी गई है । वायु के बिना पित्त और कफ दोनों दोष निष्क्रिय रहते हैं, इसकी पुष्टि आयुर्वेद ग्रन्थों से इस प्रकार होती है ।

"पित्तं पंगु कफ: पंगु पंग के मल धातव: ।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ।। "

अर्थात् पित्त गतिशील नहीं है (मल स्वेद, मूत्र, पुरीष) गतिशील नहीं है और धातयें (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र) भी गतिशील नहीं है । ये सब वायु के द्वारा जहाँ ले जाए जाते हैं, वहाँ बादल के समान चले जाते हैं।

शरीर में वायु की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए "चरक" नामक ग्रन्थ के सूत्र स्थान में लिखा है कि वायु तन्त्र (शरीर और यन्त्र) शरीर के अवयव (

को धारण करने वाला, प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान नामक पाँच प्रकारों वाला, ऊँची-नीची सभी शारीरिक चेष्टाओं का प्रवर्तक, मन का नियन्त्रण और प्रेरण करने वाला, शरीर की सभी इन्द्रियों में अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की व्यूह रचना करने वाला, सभी इन्द्रियों के अर्थों को ग्रहणकर इन्द्रियों तक ले जाने वाला, वाणी का प्रवर्तक, स्पर्श और शब्दकी प्रकृति, हर्ष और उत्साह की योनि, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला, विकृत दोषों [कफ, पित्त] का शोषण करने वाला, मलादि को बाहर निकालने वाला है ।

इस प्रकार उपर्युक्त सन्दर्भों से प्रथम दृष्टया यह सिद्ध हो जाता है कि योग के "प्राणायाम" नामक अंग का शरीर से साक्षात् सम्बन्ध है । इस सम्बन्ध को पुष्ट करने से पूर्व शरीर विज्ञान की सामान्य जानकारी देना प्रसंगानुकूल होगा ।

1. स्नायुजाल [Nervous System]

स्नायुजाल को कुछ लोग "वात नाड़ी संस्थान" नाम देना उचित समझते है । नामों की भिन्नता होने पर भी दोनों नामों का उद्देश्य एक ही है । यह संस्थान मानव शरीर का संचालक और नियामक का कार्य करता है । शरीर की विभिन्न क्रियाओं को देखकर शरीर विज्ञानियों ने नाड़ी संस्थान को पुनः अनेक प्रकारों में बाँट दिया है । प्रथम प्रकार की नाड़ियाँ अथवा स्नायुजाल शुभ-अशुभ अनुभूतियों को अपने केन्द्रों तक पहूँचाता है । आधुनिक शरीर विज्ञान में इन्हें एफरेन्ट [Afferent Nerves] कहा गया है । प्रायः इस प्रकार की स्नायुओं को सेन्सरी नर्व्स [Sensory Nerves] भी नाम भी दिया जाता है । हिन्दी में इसका अनुवाद "संज्ञावह" नाड़ियों के रूप में हो सकता है । दार्शनिक भाषा में ये ज्ञानेन्द्रियों के अन्तर्गत आती है । दूसरे प्रकार की नाडियाँ केन्द्र से प्राप्त यथायोग्य सूचनाओं को दूसरे अंगों तक पहूँचाती है। इस प्रकार की नाड़ियों को शरीर विज्ञानी "इफरेन्ट नर्व्स [Efferent Nerves] नाम देते है । इन्हें ही प्रायः ~~स्कर्म~~ मोटर नर्व्स [Motor Nerves] भी कहा जाता है । इन्हें हिन्दी में कार्यवह नाड़ियाँ नाम देना उचित है । दार्शनिक जगत् में ये कर्मेन्द्रिय के नाम से प्रसिद्ध है ।

दोनों प्रकारों वाले स्नायुजाल को हम एक बिजलीघर के समान मान सकते है, जहाँ बिजली का उत्पादन होता है । मस्तिष्क [Brain] मेरूदण्ड [Spinal cord] और उनसे सम्बन्धित अन्य स्नायु इस बिजलीघर के उपकरण है । बिजलीघर से उत्पन्न बिजली जैसे अपने से सम्बन्धित कार-खानों की मशीनों को विद्युत् प्रवाह देती है, इसी प्रकार मस्तिष्क अथवा

मेरूदण्ड से निकलने वाली शिरायें इस मानव शरीर रूपी कारखाने की कलों को विद्युत्-प्रवाह देने वाले तार हैं । यदि मूल स्रोत (बिजलीघर) में ही कोई खराबी आ जाए अथवा तारों में प्रवाहित होने वाले विद्युत् में किसी प्रकार की रूकावट आ जाए, तो शरीर की सारी क्रियाएं बन्द हो जाएगी । इसी प्रकार मस्तिष्क और स्नायुओं में कोई गड़बड़ी हो जाए अथवा शिराएँ इतनी निर्बल हो जाएँ कि वे स्फूर्ति न पहूँचा सकें, तो शरीर की क्रिया बन्द हो जाएगी । शरीर की क्रियाओं के बन्द होने पर हमारी पाचन क्रिया, रक्त संचार और श्वास-प्रश्वास भी प्रभावित होगा। क्योंकि ये क्रियाएँ उसी स्फूर्ति से संचालित होती हैं जो मस्तिष्क और मेरूदण्ड से प्राप्त होती है । स्नायुजाल की यह सर्वोपरि महत्ता है ।

योग शास्त्र की दृष्टि से स्नायुजाल का सबसे अधिकतम सम्बन्ध प्राणायाम से है । यही कारण है कि विभिन्न उपनिषदों में नाड़ी चक्र का निरूपण करते हुए प्राणायाम द्वारा नाड़ी शुद्धि का प्रतिपादन किया गया है । उपनिषदों के अनुसार शरीर में बहत्तर हजार नाडियाँ हैं । इनमें से "योगशिखोपनिषद" के अनुसार एक सौ एक हृदय से सम्बन्धित नाड़ियाँ हैं । "ध्यानबिन्दु" उपनिषद् में इस संख्या को घटाकर बहत्तर नाड़ियों को प्रमुख माना है "योगशिखा" उपनिषद् में सोलह नाड़ियों का नाम लिखते हुई इनकी शरीर में स्थिति कहाँ-कहाँ है, यह भी बतलाया गया है। "शाण्डिल्य" उपनिषद् में यह संख्या घट कर चौदह पर भी आ गई "दर्शन" उपनिषद् में भी चौदह नाड़ियों को स्वीकार करते हुए सुषुम्ना, इडा, और पिंगला नाड़ियों को ~~स्वीकार~~ मुख्य मानते हुए सुषुम्ना को "ब्रह्मनाडी" की संज्ञा दी गई है । योग से सम्बन्धित उपनिषदों में सामान्यतया चौदह नाड़ियों का ही उल्लेख मिलता है । यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए इन नाड़ियों के नाम और शरीर में इनका स्थान कहाँ-कहाँ है यह लिखा जाता है :-

संख्या	नाम	स्थान
1	सुषुम्ना	सुषुम्ना पिण्ड में होकर ब्रह्मरन्ध्र तक।
2	इडा	सुषुम्ना के वामपार्श्व में (बाँये भाग में) स्थित और वाम (बांयें) नासारन्ध्र तक।
3	पिंगला	सुषुम्ना के दक्षिण पार्श्व में स्थित और दक्षिण नासारन्ध्र तक ।
4	हस्तिजिह्वा	अधोगामिनी वाम अंगुष्ठ तक ।
5	यशस्विनी	अधोगामिनी दक्षिण अंगुष्ठ तक ।
6	कुहू	योनिस्था ।
7	अलम्बुसा	गुदस्था
8	गान्धारी	बायें नेत्रस्था ।
9	पूषा	दक्षिण नेत्रस्था ।

10	शंखिनी	वाम कर्णस्था ।
11	पयस्विनी	दक्षिण कर्णस्था ।
12	सरस्वती	जिह्वास्था ।
13	विश्वोदरा	मुखास्था ।
14	वरुणा	सर्वदेहस्था ।

उपर्युक्त चौदह यौगिक नाड़ियों के अतिरिक्त यौगिक साहित्य में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ भी मान्य है । जिससे नाड़ियों की संख्या चौबीस हो जाती है । भारतीय आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति में उपर्युक्त नाड़ी सम्बन्धी वर्णन प्राप्त नही होता । अनेक अध्यात्म शास्त्रियों का कथन है कि उपनिषदों में [नाड़ी] का अर्थ [नर्व] या"आरटरी" आदि न होकर सूक्ष्म शरीर की अदृश्य नाड़ियों से है जिनका सम्बन्ध चक्रों से है यहाँ यह भी बताना आवश्यक है कि भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से शरीर के तीन रूप दिये गये है - एक स्थूल शरीर, दूसरा सूक्ष्म शरीर और तीसरा कारण शरीर ।

2. ग्रन्थि समूह [Glandular System]

बिजलीघर में बिजली पैदा होती रहे और प्रत्येक तार उसे अपने अपने निश्चित स्थानों पर पहुँचाता रहे, इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है । यदि बिजली प्रवाह में यथेष्ट शक्ति नहीं है, तो उस बिजली द्वारा संचालित होने वाली मशीनें चल नही सकेगी । मशीन को चलाने के लिए बिजली में ताकत भी पूरी होनी चाहिए । मानव शरीर रूपी कारखाने में बिजली की शक्ति "एंडोक्राइन[Endocrin glands]" नामक ग्रन्थि समूह से निकलने वाले द्रव पदार्थों पर निर्भर करती है । सारा स्नायुजाल [Nervous System] ठीक होने पर भी यदि उपर्युक्त द्रव पदार्थ पर्याप्त मात्रा में नहीं मिले और जैसे होने चाहिए वैसे न हो, तो स्नायु स्फूर्ति नहीं होगी और आगे चलकर स्नायुसमूह अपने आप कमजोर हो जाएगा । इसका परिणाम यह होगा कि शरीर की क्रियाएँ और प्राणों का व्यापार सब मन्द और कमजोर हो जाएँगे ।

उदाहरण के रूप में एंडोक्रीन नामक ग्रन्थियों में से हम "थाइराइड" नामक ग्रन्थि को ही लेते है । यदि किसी स्वस्थ मनुष्य की "थाइराइड" ग्रन्थि निकाल दी जाए, तो उसकी आँखें पीली पड़ने लगेगी और गाल पिचक जाऐंगे । मांशपेशियाँ क्षीण हो जाएगी और बाल सफेद होने लगेंगे । वह मनुष्य बुढ़ापे की आयु से पहले ही बूढ़ा हो जाएगा । यदि" थाइराइड" पुनः आरोपित कर दिया जाए, तो उस मनुष्य में युवावस्था की तरंगे पुनः उठने लगेगी । और बुढ़ापे के सारे चिन्ह मिटने लगेंगे । "एड्रीनल" ग्रन्थि का कार्य भय, क्रोध, लड़ाई और

अचानक होने वाले सदमों ‡झटकों‡ के समय उत्पन्न होने वाले द्रव पदार्थ को नियन्त्रण में रखना है।

पिट्यूटरी ग्लैंड शरीर का सबसे महत्वपूर्ण इंडोक्राइन ग्लैंड है। यह दो हिस्सों से मिलकर बना होता है जिन्हें एन्टीरियर लोब और पोस्टीरीयर लोब कहते हैं। एंटीरीयर लोब ऐसे हार्मोन्स का स्त्राव करता है जो कई इंडोक्राइन ग्लैंड को स्त्राव के लिए प्रेरित करते हैं। इसी वजह से पिट्यूटरी ग्लैंड को मास्टर ग्लैंड भी कहते हैं। पिट्यूटरी ग्लैंड का एंटीरीयर लोब हिस्सा मस्तिष्क के हाइपोथैलामस हिस्से से संचालित व नियन्त्रित होता है। हाइपोथैलामस रिलीजिंग हार्मोन्स का स्त्राव करता है, इससे प्रेरित होकर ही एंटीरियर लोब हार्मोन, का स्त्राव करता है। शरीर के इंडोक्राईन सिस्टम और संवेदी तंत्र के बीच पुल का काम करता है। ~~हाइपोथैलामस~~।

कुछ इंडोक्राईन ग्लैंड पिट्यूटरी या संवेदी तंत्र द्वारासंचालित या नियंत्रित नहीं होते हैं। जैसे कि रक्त को सामान्य रसायनिक सरंचना को स्थिर बनाए रखने वाली ग्रंथियाँ। ये रक्त में विभिन्न रसायनों की ~~रक्~~ मात्रा से नियंत्रित होती रहती हैं। उसी तरह पैराथायरायड ग्लैंड पैराथायरायड हार्मोन का स्त्राव करता है। जब रक्त में कैल्शियम की मात्रा सामान्य स्तर से नीचे चली जाती है। पैराथामोन रक्त में कैल्शियम की मात्रा बढ़ा देता है।

कुछ प्रमुख इंडोक्राईन गलैंड और उनसे स्त्रावित हार्मोन -

एंड्रीनल ग्लैंड :-

यह ग्लूकोकार्टिक्वाएड और खासतौर पर कार्टिसोल का स्त्राव करती है। इससे मेटाबोलिज्म में मदद मिलती है। इस प्रक्रिया के जरिए ही भोजन उर्जा में बदल जाता है इसके अलावा यह स्त्राव तनाव के मुताबिक एडजस्ट करने की ~~व्यक्ति~~ व्यक्ति की क्षमता भी बढाता है।

ग्रन्थि समूह के प्रसंग में हमें यौगिक शरीर विज्ञान के विषय में विचार कर लेना उचित प्रतीत है। यौगिक शरीर विज्ञान की दृष्टि से मानव शरीर में "कुण्डलिनी" नामक विद्युत शक्ति का निवास है। इस विद्युत शक्ति के प्रवाह का कार्य "चक्र" करते है। जिनकी संख्या छह है। ये चक्र मोटे रूप में ग्रन्थियों के समान माने जाते है। इनके नाम इस प्रकार है :-

1. मूलाधार 2. स्वाधिष्ठान 3. मणिपूर 4. अनाहत 5. विशुद्धि और 6. आज्ञा।

ये शरीर में घुमने वाले शक्ति केन्द्र है।

"कुण्डलिनी" साँप के आकर वाली और साढे तीन घेरे वाली ‡वलयाकार‡ शक्ति कही जाती है। यह वैद्युत अग्निमय गुप्त शक्ति है। यह

प्रकाश की गति की अपेक्षा भी अधिक तेज है । श्रीमती ब्लैवेट्स्की की मान्यता के अनुसार प्रकाश 1850000 ।अठारह लाख पचास हजार । मील प्रति सैकण्ड की गति से चलता है, जबकि "कुण्डलिनी" की गति 3450000 । चौंतीस लाख पचास हजार । प्रति सैकण्ड है । यह शक्ति शरीरस्थ "मुलाधार" चक्र में सोयी रहती है । "मुलाधार" मेरुदण्ड । Spinal Cord । के नीचे के भाग में गुदा के पास स्थित है ।

जब कुण्डलिनी "मूलाधार" चक्र से उठकर मेरुदण्ड में से होकर ऊपर जाती है, जब एक-एक चक्र को जगाती हुई चलती है, इससे वे चक्र खुल जाते है । "मुलाधार" के बाद "स्वाधिष्ठान" चक्र है । इस चक्र का अंग्रेज़ी का नाम "सोलर फ्लेक्सस है" है । "स्वाधिष्ठान" और "मणिपूर" चक्रों के कुण्डलिनी द्वारा प्रज्वलित होने पर इनके प्रभाव से जीवन क्रम बलयुक्त नव शक्ति सम्पन्न और स्वरूप स्थिति में हो जाता है । आत्म रक्षा की क्षमता बहुत अधिकमात्रा में बढ़ जाती है । कहने का अभिप्राय यह है कि "स्वाधिष्ठान" और "मणिपुर" चक्र शरीर में वही कार्य करते हैं जो कि "थाइराइड और एड्रीनल" ग्रन्थियाँ करती है ।

"मणिपूर" के ऊपर "अनाहत" चक्र है । इस चक्र का स्थान हृदय है । इस चक्र को ईसाई साधक "मिस्टिक रोज" ।गुप्त गुलाब । कहते है । "अनाहत" के उपर "विशुद्धि" चक्र है और इसका स्थान "कण्ठ" प्रदेश है । आधुनिक चिकित्सा विज्ञान जिस थाईराइड" ग्रन्थि के अद्भुत कार्यों का आविष्कार कर रहा है, वह इस "विशुद्धि" चक्र के साथ ही जुड़ा हुआ है । "विशुद्धि" चक्र के ऊपर "आज्ञा" चक्र है । इसका स्थान "भ्रूमध्य ।भौंहों के बीच । है । यह चक्र "द्विदल" । दो पंखुडियों वाला । है । एक दल पाश्चात्य विज्ञान की "पाईनियल" ग्रन्थि है और दूसरा दल "पिट्युटरी" ग्रन्थि है । इस चक्र के विकसित और प्रज्वलित होने का नाम ही तन्त्र ग्रन्थों की मान्यता के अनुसार "शिवनेत्र" है इसकी की सहायता से पांजलत योग दर्शन में बताई गई निम्नसिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है ।

1. अणिमा- अत्यन्त सूक्ष्मत्व । छोटा। प्राप्त कर लेना इस सिद्धि का उद्देश्य है । दर्शन शास्त्र में अणुशब्द अधिकांश स्थालों में सूक्ष्म अर्थ में प्रयुक्त होता है । इस सूक्ष्म तत्त्व की अन्तिम सीमा का नाम अणिमा है । जब साधक अपने शरीर को अणु से भी सूक्ष्म कर लेता है इस स्थिति को अणिमा सिद्धि कहते है/ ~~इसे अदेय सिद्धि भी कहते~~ है ।

2. लघिमा- लघु शब्द का अर्थ है "हलका" । पक्षी के रोएं अथवा रूई आदि के समान शरीर को बना लेना लघिमा सिद्धि है । इस सिद्धि द्वारा योगी इच्छा करते ही अपने स्थूल शरीर को हलके से हलका कर सकता है और आकाश में उड़ सकता है । इस सिद्धि को "उत्थित" समाधि भी कहा जाता है । इसका दूसरा ... है ।

प्राणायाम द्वारा शरीर को निरन्तर अभ्यास से इतना हलका बना दिया जाता है कि वह भूमि की गुरूत्वाकर्षण शक्ति को पार कर लेता है ।

3. महिमा- इस सिद्धि में योगी इच्छा करते ही अपने शरीर को जितना चाहे उतना बढ़ा सकता है । इस सिद्धि में भी प्राणायाम का ही हाथ है । रामायण में हनुमान सुरसा प्रसंग इसका उदाहरण है ।

4. गरिमा- इस सिद्धि में योगी अपने शरीर को अथवा उसके किसी एक अंग को भारी से भारी बना लेता है । रावण की सभा में अंगद के पाँव की घटना में इस सिद्धि का प्रभाव खोजा जा सकता है । इसके मूल में भी प्राणायाम ही मौजूद है ।

5. प्राप्तिसिद्धि- इस सिद्धि में योगी इच्छा करते ही एक लोक से दूसरे लोक में अथवा एक शरीर से दूसरे शरीर में चला जाता है । नारद मुनि के विषय में कहा जाता है कि वे लोक-लोकान्तरों में विचरण करते थे ।

6. प्राकाम्य - इस सिद्धि में योगी जिस किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा करता है, उसको वही वस्तु प्राप्त हो जाती है ।

7. वशित्व- इस सिद्धि में योगी के वश में पंचभूत और सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ आ जाते है । वह पंचभूतों से अपनी इच्छानुसार कार्य लें कर सकता है ।

8. ईशित्व - ईशित्व उसको कहते हैं कि जब योगी भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति, और समाप्ति करने की शक्ति को प्राप्त कर लेता है ।

उपर्युक्त आठों सिद्धियों में एक निश्चित क्रम है । इस क्रम में पहले शरीर से सम्बन्धित सिद्धियाँ आती है तथा उसके बाद में मन से सम्बन्धित सिद्धियाँ बताई गई है ।

3. रक्तवाहक अंग समूह (Circulatory System)

मानव शरीर के लिए उपयोगी स्नायुजाल और ग्रन्थि समूहों को पर्याप्त मात्रा में रूधिर मिलता रहे, इस कार्य के लिए स्नयुजाल और ग्रन्थि समूह रक्तवाहक अंगों के समूह पर निर्भर है । रक्तवाहक समूह में हृदय, हृदय से अंग-प्रत्यंगों को रक्त ले जाने वाली आरटेरीज (Arteries), अन्य अंगों से वापिस हृदय से रक्त ले जाने वाली नाड़ियाँ (Veins) और उक्त दोनों प्रकार की नाड़ियों को जोड़ने वाली अतिसूक्ष्म शिरायें आती हैं । मानव शरीर के अंग प्रत्यंग में रक्त

पहूँचाना इस अंग समूह का कार्य है। स्नायुजाल और ग्रन्थि समूह को यदि शुद्ध रक्त पर्याप्त परिमाण में नहीं मिले, तो उनका कार्य भी शिथिल हो जाएगा। शरीर में "कार्बनडाइ ओक्साइड" गैस निरन्तर बनती रहती है। जिसका रक्त संचार ठीक है, उसकी रक्त वाहक नाड़ियाँ इस विषैली गैस को फेफड़ों में से ले आती है और वहाँ उसे नष्ट कर देती है

4. श्वासोपयोगी अंग समूह (Respiratory System.)

रक्त वाहक अंग समूहों में से जो रक्त प्रवाहित हो रहा है, वह शुद्ध व उत्तम होना चाहिए। शुद्ध और उत्तम रक्त न हो, तो रक्तवाहक अंगों के स्वस्थ रहने से भी कोई लाभ नहीं है। रक्त में यदि विषैले तत्तव भरे हुए है, तो रक्तवाहक अंगो का ठीक तरह से काम करना भी बेकार होगा। रक्त की शुद्ध के लिए शरीर श्वास-प्रश्वास के अंगों और पाचन से सम्बन्धित अंगों पर निर्भर। उत्तम और शुद्ध रक्त वह होता है, जिसमें अंगों को पुष्ट करने वाले तत्व हों। आक्सिजन हमें उस वायुसे मिलता है, जिसे सांस के द्वारा हम भीतर ले जाते हैं। इसी को योग और आयुर्वेद के ग्रन्थों में श्वास" नाम दिया गया है। शरीर से दूषित वायु (कार्बन डाइ आक्साईड) निकालने वाली प्रक्रिया का नाम प्रश्वास है। इन दोनों प्रकार की प्रक्रियाओं पर नियन्त्रण करना प्राणायाम कहलाता है। अतः श्वासोपयोगी अंग जितने पुष्ट होगें, उतना ही आक्सिजन हमारा रक्त ग्रहण कर सकेगा। श्वास की क्रिया दोषयुक्त होने से रक्त में आक्सिजन प्रर्याप्त मात्रा में नहीं पहूँच सकेगा। और जो अंग इस प्रकार के रक्त से पुष्ट होगे, वे क्रमशः निर्बल और क्षीण हो जाऐगे।

5. पाकोपयोगी अंगसमूह :- (Digestive System)

पाकोपयोगी अंगसमूह का खाये, पीये गये पदार्थों का अच्छी प्रकार पाचन करना है। अच्छी पाचन क्रिया से पदार्थों से अधिक मात्रा में रस ग्रहण कर सकते हैं। इस रस से रक्त की मात्रा में वृद्धि होती है। जिन पदार्थों को हम खाते पीते हैं, उनके पचने पर बहुत सा निस्सार तत्तव बचा रहता है। इस तत्तव को "अपान" नामक वायु, मल, मूत्र के रूप में बाहर निकाल देता है। हमारे शरीर में नाभि से ऊपर वाले भाग में "प्राण" नामक वायु का महत्व है और नाभि से नीचे वाले शरीर के भाग में "अपान" वायु का प्रभुत्व है। पाकोपयोगी अंगों में आतें (छोटी) -बड़ी) और गुर्दे महत्वपूर्ण हैं। हमारी आँतें जो शरीर रचना की दृष्टि से आमाशय की नली के अन्तर्गत हैं, ठीक तरह से काम नही करती, तो मल बड़ी आँतों (Colon) अथवा छोटी आँतों में भी

कई दिनों तक ठहर जाता है । और उससे अनेक प्रकार की विषैली गैसें उत्पन्न हो जाती हैं । ये विषैली गैसें रक्त प्रवाह में प्रविष्ट होकर रक्त को विष-युक्त कर देती है । यह विषाक्त रक्त सब अंगों में फैलकर सारे शरीर को दूषित कर देता है । स्वभाव से ही विषैले और निरर्थक तत्व गुर्दे द्वारा मूत्र के साथ शरीर से निकल जाते हैं । यदि गुर्दे अपना काम ठीक प्रकार से नहीं करेगे ,तो विषैले तत्व शरीर के भीतर ही रहकर शरीर के जोड़ों में आश्रय ले लेते है ।

शरीर रचना की सामान्य जानकारी देने के बाद, अब हम जानने का प्रयास करेंगे कि शरीर के उपर्युक्त पाँच विभागों के कार्यों में प्राणायाम कहाँ तक सहायक हो सकता है । हम पहिले लिख चुके है कि शारीरिक शक्ति का मूल स्त्रोत मस्तिष्क है । मस्तिष्क के बाद दूसरा स्थान मेरूदण्ड और उससे सम्बन्धित स्नायुओं का है । अतः इस बात को देखना है कि इन पर प्राणायाम का कैसा प्रभाव पडता है । सभी शरीर विज्ञानी यह मानते है कि सांस लेते समय मस्तिष्क में से दूषित रक्त प्रवाहित होता है और शुद्ध रक्त उसमें संचारित होता है । यदि साँस गहरी हो, तो दूषित रक्त एक साथ बह निकले और हृदय से जो शुद्ध रक्त वहाँ आता है, वह और भी सुन्दर आने लगे। प्राणायाम की विधि में साँस गहरे से गहरा निकाला जाता है । इसका परिणाम यह होता है कि मस्तिष्क सारा दूषित रक्त बह जाता है और हृदय का शुद्ध रक्त उसे अधिक से अधिक मात्रा में मिलता है । "उड्डीयान बन्ध" से हमें इतना अधिक शुद्ध रक्त मिलता है, जितना किसी अन्य श्वास सम्बन्धी व्यायाम से नहीं मिल सकता । प्राणायाम से जो तुरन्त बल और नवीनता मिलती है, उसका यही कारण है ।

मेरूदण्ड और उससे सम्बन्धित स्नायुओं में, हम देखते है कि इन अंगों की रक्त की गति साधारणतया मन्द होती है । प्राणायाम से इन अंगों में रक्त की गति बढ़ जाती है । इन अंगों को स्वस्थ रखने मे प्राणायाम सहायक होता है । योग से सम्बन्धित ग्रन्थों में "कुम्भक" नामक प्राणायाम करते समय "मूलबन्ध" उड्डीयान बन्ध और जालन्धर बन्ध" करने का उपदेश दिया गया है इन बन्धों का एक ही काल में अभ्यास करने से पृष्ठवंश (जिसमें मेरूदण्ड स्थित है) का तथा उससे सम्बन्धित स्नायुओं का उत्तम रीति से व्यायाम हो जाता है । प्राणायाम से स्नायुओं में फैलाव और संकोचन (सिकुड़न) होता रहता है और मेरूदण्ड एवं तत्सम्बन्धित स्नायुओं में रक्त की गति बढ जाती है ।

स्नायुजाल के स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव डालने के लिये सबसे उत्तम प्राणायाम (भस्त्रिका" है । इस प्राणायाम से श्वास की गति तेज होने से शरीर

भस्त्रिका

के प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म अंग जिसमें स्नायुजाल भी है, मालिश हो जाती है ।

रक्त की उत्तमता और उसके उचित मात्रा में स्नायुओं और ग्रन्थियों में विभक्त होने पर ही ग्रन्थियों का स्वास्थ्य टिका हुआ है । प्राणायाम में विशेष कर "मस्त्रिका " में रक्त की गति बहुत तेज हो जाती है और रक्त भी उत्तम हो जाता है । इस प्रकार ग्रन्थि समूह को भी पहले की अपेक्षा उत्तम और अधिकमात्रा में रक्त मिलने लगता है । इससे ये पहिले की अपेक्षा अधिक स्वस्थ हो जाती है ।

किसी भी मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसकी नाड़ियों में प्रवाहित होने वाले रक्त को "आक्सिजन" पर्याप्त रूप से मिलती रहे । योग के ग्रन्थों में बताई गई विधि से प्राणायाम करने पर रक्त को जितना "आक्सिजन" मिल सकता है, उतना किसी अन्य व्यायाम से नहीं । जो लोग अपने श्वास की क्रिया को ठीक करने के लिए किसी प्रकार का अभ्यास नहीं करते वे अपने फेफड़ों के कुछ अंशों से ही सांस लेते हैं, शेष अंश निकम्मे रहते हैं । जिन अंशों में वायु का संचार अच्छी प्रकार से नहीं होता ,उनमें राजयक्ष्मा (टी०बी०) के कीटाणु आश्रय पाकर बढ़ जाते है । यदि प्राणायाम द्वारा फेफड़ों के प्रत्येक अंश से काम लिया जाए और उनका प्रत्येक छिद्र दिन में कई बार खुल जाए, तो इन कीटाणुओं के आक्रमण की सम्भावना कम हो जाएगी । प्राणायाम की क्रिया से हृदय के चारों ओर दबाब पड़ने से जो परिवर्तन होते हैं, उनका परीक्षण कैवल्यधाम (लोनेवाला) की प्रयोगशालाओं में हो चुका है । पाश्चात्य विद्वान भी इस बात को मानते है कि दीर्घ सांस लेने का अभ्यास करने से हृदय पर हल्की सी मालिश हो जाती है । यौगिक व्यायाम (मस्त्रिका) प्राणायाम में विशेषकर उस हिस्से में जो (कपाल-भाति) नामक प्राणायाम से मिलता-जुलता है वायवीय स्पन्दन आरम्भ होकर मानव शरीर के प्रायः प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म अंगों को यहाँ तक कि नाड़ियों और शिराओं तक को हिला देता है । इस प्रकार प्राणायाम से सम्पूर्ण रक्तवाहक समूह को व्यायाम और मालिश हो जाती है ।

मल को बाहर निकालने वाले अंगों में से आँते और गुर्दे तो पेट के अन्दर है और फेफड़े छाती के अन्दर । साधारणतया सांस लेने में पेट की मांशपेशियाँ क्रमशः उपर और नीचे की ओर जाती हैं । इससे आँतों और गुर्दों में भी निरन्तर हलचल और मालिश होती रहती है । प्राणायाम में पूरक, रेचक और कुम्भक करते समय यह हलचल और मालिश ~~स्पष्ट रूप में~~ अधिक स्पष्ट रूप मे होने लगती है । यदि कहीं रक्त जमा हो गया तो इस हलचल के कारण उस पर जोर पडने से वह हट सकता है । यही नहीं अपितु प्राणायाम से आँतों और गुर्दे के कार्य को नियन्त्रण में रखने वाले स्नायु और मांशपेशियाँ भी सुदृढ़ हो जाती हैं/प्राणायाम से अधिक स्वस्थ हो जाने पर आँतें और गुर्दे अपना कार्य चिरकाल तक सफलता के साथ करने लगते है ।

षट् कर्म और प्राणायाम

आयुर्वेद के अनुसार मानव शरीर में वात, पित और कफ ये तीन दोष होते हैं। यद्यपि इनका नाम "दोष" है किन्तु जब ये तीनों दोष शरीर में सम (बराबर) प्रमाण होते है अर्थात् किसी की कमी और अधिकता नहीं होती है, तो ये दोष शरीर को धारण करते हैं और सारे शरीर की क्रियाओं का स्वाभाविक रूप से सम्पादन करते हैं। इन दोषों की सम अवस्था के कारण ही शरीर स्वस्थ और निरोग बना रहता है। जब ये दोष विषम हो जाते है, तो उसके परिणाम स्वरूप शरीर में अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। वात प्रधान शरीरों में आहार-विहार के दोष वातवृद्धि हो जाती है। पित्त प्रधान शरीरों में पित्त विकार से सम्बन्धित रोग और कफ दूषित होने पर दूषित श्लेष्मा आमवृद्धि या मेद का संग्रह हो जाता है। पश्चात् इन मलों के प्रकुपित होने पर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होने लगते हैं। रोगों को उत्पन्न न होने देने के लिए और हो गये तो उन्हें दूर करने के लिये जैसे आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों ने स्नेहपान, स्वेदन, वमन, विरेचन और वस्ति ये पांच कर्म कहे है, वैसे ही हठयोग के आचार्यों ने शरीर की शुद्धि के लिये "षट्कर्म" निश्चित किये हैं।

क्या षट्कर्म योग साधना के जन्म के साथ ही उत्पन्न हुऐ थे अथवा बाद में इनका आविष्कार किया गया था? इस विषय पर विचार करते समय हम निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि षट्कर्मों के बिना ही पहले योग साधन किया जाता था। उस समय शरीर शुद्धि के लिऐ किसी वस्तु अथवा साधन की आवश्यकता अनुभव नहीं की गई थी। शरीर शोधन का सम्पूर्ण कार्य प्राणायाम द्वारा ही किया जाता था। प्राणायाम द्वारा शरीर शोधन करने में बहुत अधिक समय लगता था। अतः साधकों ने ऐसे साधनों की खोज आरम्भ कर दी जो कम समय में प्राणायाम के सामान ही शीघ्र शरीर का शोधन कर सके। इन्हीं साधनो को षट्कर्म कहा जाता है। आरम्भ में कर्म छह ही थे, परन्तु कालान्तर में इनकी संख्या दस तक हो गई। जो इस प्रकार थी :-

1. धौति, 2. नेति, 3. वस्ति, 4. गजकर्म, 5. नौलि, 6. त्राटक, 7. कपाल भाति, 8. धौकनी, 9 बाधी, 10. शंखपखाल।

पीछे गुरुपरम्परा से प्राप्त दश विध कर्म की विद्या समाप्त होती गई। वर्तमान में इनकी सख्या छह तक ही सीमित है। हठयोग प्रदीपिका नामक ग्रन्थ के रचयिता स्वात्माराम ने 1. धौति, 2. वस्ति, 3. नेति, 4. नौलि, 5. त्राटक, 6. कपाल भाति, इन छह को षट्कर्म में गिना है। इसके विपरित "भक्तिसागर" के रचयिता चरणदास ने 1. नेति, 2. धौति, 3. वस्ति, 4. गजकर्ण, 5. न्यौलि, और 6. त्राटक को षट् में गिना है। परन्तु हठयोग में स्वात्माराम की परम्परा ही प्रचलित है।

"षट् कर्म से जो लाभ होते है, वे प्राणायाम से भी प्राप्त होते हैं अन्तर केवल समय और धैर्य का है। परन्तु जिस घर में गन्दगी इतनी फैल गई हो

कि झाड़ू से न हटाई जा सके, उसके लिए कुदाल और टोकरी की आवश्यकता होती है । इसी प्रकार शरीर में एकत्रित मल को शीघ्रता से हटाने के लिए "षट्कर्म की आवश्यकता है । इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिऐ कि "षट्कर्म" प्राणायाम के सिर पर सदा के लिऐ बैठ गया और उसका अस्तित्व ही समाप्त कर दिया है । "षट्कर्म" प्राणायाम का पूरक है, स्थानापन्न नहीं है । शरीर शोधन के षट्कर्मों में से नेति, वस्ति और त्राटक और कपालभति में तो प्राणायाम का विशेष महत्व है ।

एक बात और ध्यान करने योग्य है कि वर्तमान समय में अनेक साधक "षट्कर्म" के मूल उद्देश्य को न समझते हुऐ तीनों धातुओं (वात, पित्त, कफ) के सम होते हुऐ भी प्रतिदिन षट्कर्म करते हैं । आवश्यकता न होने पर प्रतिदिन "षट्कर्म" करने से समय का अपव्यय, शारीरिक निर्बलता और मानसिक स्थिति में शिथिलता आती है । षट्कर्म से शरीर शोधन उसी अवस्था में करना चाहिऐ जब श्लेष्म और मेद की वृद्धि हो जाए । इसी बात को हठयोग प्रदीपिका में इस प्रकार कहा गया है :-

"मेद:श्लेष्माधिक: पूर्वं षट् कर्माणि समाचरेत् ।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावत:"

अर्थात् जिन लोगों को मेद और श्लेष्मा की अधिकता है, वे पहले "षट्कर्म" का आचरण करें । जिन्हें मेद और श्लेष्मा की अधिकता नहीं है, वे दोषों का समभाव होने से इनका आचरण न करें ।

आगे हम "षट्कर्म" के प्रत्येक कर्म पर विचार प्रस्तुत करते हुऐ, उसके करने की विधि और लाभों पर चर्चा करते है :-

1. धौति

धौति का सामान्य अर्थ धोना या साफ करना है । इसके द्वारा सामान्यत: आमाशय एवं अन्य प्रणाली (नाली) का शोधन होता है । आमाशय में जो कफादि दोष संचित रहते हैं, इस कर्म द्वारा वे बाहर निकल जाते हैं । भक्ति सागर नामक ग्रन्थ में चरण दास ने "धौति" के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है :-

"काया होवे शुद्ध ही, भजैं पित्त कफ रोग ।
शुकदेव कहे धोती करम साधे योगी लोग " ।।

धौति कर्म तीन प्रकार से किया जाता है । इन्हीं प्रकारों के कारण इन्हें 1. वस्त्र धौति, 2. वारिधौति और दण्ड धौति नाम से पुकारा जाता है

यहां क्रमश: इनका वर्णन किया जाता है ।

(क)- वस्त्र धौति

इसको कुछ लोग 'ब्रह्मदातोन' नाम भी देते है । हठयोग प्रदीपिका नामक ग्रन्थ के अनुसार चार अंगुल चौड़े और पन्द्रह हाथ लम्बे भीगे हुऐ

सफेद वस्त्र को धीरे-धीरे निगलने और धीरे-2 ही उसको बाहर निकालने के कर्म को वस्त्र धौति कहते है । कुछ साधक शीतल जल से और गर्म जल से वस्त्र की पटटी को धोना कहते हैं और उसे दूध से भिगोना भी कहते हैं । गुरु द्वारा बताई गई पट्टी का एक छोर मुंह में डालकर दूसरा छोर हाथ में पकड़े रखे । मुँह में डाले हुवे छोर को उंगली से हलक में ले जाकर बिना दांत लगाऐ शनैः-2 दूध की घूंट के समान निगला जाता है। आरम्भ में निगलना कठिनहोता है और उल्टी आती है । इसलिऐ गुनगुने पानी के साथ निगलनी चाहिऐ । प्रथम दिन ही सारी पट्टी निगलना सम्भव नहीं होता, अतः शनैः-2 निगलने का अभ्यास बढ़ाना चाहिऐ । अभ्यास होने पर सारी "वस्त्र धौति" निगली जा सकती है । परन्तु इस बात की सावधानी रखे कि दूसरा छोर मुख से बाहर ही रहे ।

प्राचीन काल में जब महीन और मुलायम वस्त्र का आविष्कार नहीं हुआ था, क्या तब भी साधक "धौति" कर्म करते थे । इसजिज्ञासा को मिटाने के लिऐ हमने वयोवृद्ध साधकों से सम्पर्क किया । उन्होंने हमारी जिज्ञासा का समाधान करते हुऐ बताया कि प्राचीन काल के योगी योग के स्थान व देश में मिलने वाली प्राकृतिक वस्तुओं जैसे- बांस, नई करची या बड़ की लहकने वाली दाढ़ी (जटा) का प्रयोग इस कर्म के लिऐ करते थे । इस कर्म में इस समय "धोतिकर्म" के लिऐ प्रयुक्त वस्तु की लम्बाई चौड़ाई का कोई नियम नहीं था । पाश्चात्य लोगों ने धौति के लिऐ Stomach Tube बनाई है । इस रबड़ की एक नली है, जिसका एक मुख खुला रहता है और दूसरे सिरे पर कुछ उपर हटकर बगल में एक छेद होता है । जल पीकर खुला सिरा उपर रखकर दूसरा सिरा निगला जाता है और पानी रबड़ की नाली से गिर जाता है ।

"धौति कर्म" में कोई-2साधक लाल वस्त्र का प्रयोग भी करते हैं और इस कर्म को दूर से देखने वाला यह अफवाह उड़ा देता है कि उसने अमुक साधु को अपनी अन्तड़ियां और कलेजा निकाल कर धोते देखा था । इससे यद्यपि योगियों की मान्यता बढ़ती है तथापि झूठ का प्रचार होता है ।

श्वास नालिका में सूजन, सुखी खांसी, हिचकी, उल्टी, आमाशय में सूजन दस्त मुंह से खून गिरना इत्यादि कोई रोग हो, तब "धौतिकर्म" लाभदायक नहीं होता । आवश्यकता न होने पर यह कर्म प्रतिदिन नहीं करना चाहिऐ । ऐसा करने से हानिहोने की सम्भावना है । प्रतिदिन धौति कर्म करने से पाचन क्रिया में उपयोगी पित्त और कफ "धौति" निगलने के कारण विकृत होकर बाहर निकलते रहेंगे । जिससे पाचन शक्ति मन्द होकर शरीर निर्बल हो जाऐगा ।

"धौतिकर्म" के प्रभाव से खांसी, सांस का रोग, तिल्ली सम्बन्धी बिमारी, कुष्ठ रोग और बीस प्रकार के कफ रोगों में लाभ मिलता है ।

इसके बाद यथा शक्ति पानी पीकर "नौलि" करके दोनों नल हिलाऐं या केवल पेट को ही अच्छी तरह हिलाऐं और पीऐं हुऐं पानी को वमन ӏउल्टीӏ के समान निकाल दे । फिर शनैः-2 वस्त्र को बाहर निकाले ।

वस्त्र धौति को बड़ी सावधानी से करना चाहिऐं । इस बात का ध्यान रहे कि अन्दर जाकर धोती उलझने न पाये । ऐसा होने पर उसके निकालने में कठिनाई होगी । यदि असावधानी से कभी ऐसी स्थिति हो जाऐं तो धौती वापिस निकालना आरम्भ कर दे । ऐसा करने से उलझी हुई धौति सुलझ जाऐंगी । यदि इस प्रकार भी न सुलझे तो उल्टी करने की दवाई लेकर उसे निकाल दे ।

"वस्त्र धौति" को बाहर निकालने के लिऐं बड़ी सावधानी की आवश्यकता है । "वस्त्र धोती" को जब बाहर निकालना हो तो मुख को पूरा खोलकर धौति के बाहर बचे भाग को पकड़ कर धीरे-2 खींचना चाहिऐं । जब तक धौति आसानी से बाहर निकली जाऐं, उसे निकालते रहिऐं, परन्तु रुकने पर उसे खिंचना तुरन्त बन्द कर दे और उसे उसी प्रकार भीतर निगल जाऐं जैसे पहले निगला था । दो-तीन ग्रास निगलने पर पुनः धौती को धीरे-2 खींचना आरम्भ कर दे । ऐसा करने से धौति सीधी हो जाऐंगी ।

जिसे कफ की शिकायत हो उसे गर्म पानी में धौति को भिगोकर निगलना चाहिऐं । जिसे कफ की शिकायत न हो, किन्तु पित्त की अधिकता या पित्त बिगड़ा हुआ हो तो गर्म पानी के बदले गरम दूध में धौति निगलनी चाहिऐं । यदि धौति निगलने में [illegible] अधिक उबकाई आये, तो अग्र भाग पर कुछ शहद लगाकर भी धौति निगली जा सकती है ।

ӏखӏ <u>वारी धौति</u>

"वारि धौति" के अन्य नाम (पर्यायवाची) "कुंजल" और "गजकरणी " भी है । "कुंजल" शब्द "कुंजर" ӏहाथीӏ शब्द का रूप है । क्योंकि संस्कृत व्याकरण के एक नियम के अनुसार "र" और "ल" में अभेद होता है । ӏखाली पेट नमक से मिला गुनगुना पानी पीकर, छाती हिलाकर उल्टी की तरह निकालने को कुंजल कर्म अथवा "गजकरणी" कहते है । क्योंकि जैसे हाथी सूंड से जल खींचकर कर फेंकता है, इसी प्रकार इस कर्म में जल को पीकर निकाला जाता है । "भक्तिसागर" नामक ग्रन्थ में इसके विषय में कहा गया है:-

"गज-कर्म याहि जानिए, पिये पेट भर निर ।
फेरि युक्ति सो काढ़िये, रोग न होय शरीर ।।"

जिस प्रकार किसी बर्तन में पानी डालकर उसे धोकर साफ किया है और साफ करने के बाद पानी फेंक दिया है, ठीक यही क्रिया निरोग रहने के लिऐ "कुंजल कर्म " में की जाती है । आरम्भ में पिये हुवे पानी का निकलना कठिन होता है । तालु के उपर छोटि जीभ को सीधें हाथ की दो अंगुलियो से दबाने पर पानी निकलने लगता है । कुंजल कर्म के निरन्तर अभ्यास से कुछ दिनों

में सफलता मिलती है ।

इस कर्म को करने के लिए प्रात:काल का समय सर्वोत्तम माना गया है । शौच आदि क्रियाओं से निवृत होने के बाद "कागासन" (उकडूं) बैठ कर नमक मिला गुनगुना गर्मपानी जितना पी सके, उतना पीना चाहिए। डट कर पानी पीने के बाद मितली होने लगे तो सीधे खड़े होकर कमर के ऊपर के भाग को आगे की ओर नीचे झुका कर नाभि से 90 डिग्री का कौण बनाते हुवे इस प्रकार खड़े होना चाहिए कि दोनों पैर आपस में मिले रहें । इसके बाद बायें हाथ को पेट पर रखे हुए दायें हाथ की तीन अंगुलियों (तर्जनी, मध्यमा, अनामिका) या दो अंगुलियों को मुख के अन्दर गले में डालना चाहिए । गले में जो लटका हुवा कौआ दिखाई देता है (इस कौए को लघु जीभ भी कहते है) उस पर सावधानी से मध्यमा उंगुली द्वारा स्पर्श करना चाहिए । मध्यमा अंगुली के स्पर्श मात्र से उल्टी होने लगेगी ।

जब उल्टी होने लगे और पेट का पानी बाहर निकलने लगे तब मुंह से अंगुली निकाल लेनी चाहिए, जिससे पानी सरलता से बाहर नि-ल सके । उल्टी होने पर पुन: अंगुली मुख में डाल कर कौवा को छूना चाहिए, जिससे शेष बचा पानी भी निकल जायेगा । अन्त में यदि खट्टा या चरपरा पानी निकले, तो तो यह समझना चाहिए कि आमाशय में अभी पित्त बाकी है और वह पूरी तरह नहीं निकला है । बचे पित्त को निकालने के लिए फिर पानी पीने और अंगुली डालने की क्रिया से निकाल देना चाहिए ।

कुंजल की समाप्ति के बाद कागासन या उत्कटासन में बैठकर सिर पर ठंडा पानी डालिए । इससे सिर में ठण्डक पहुँचेगी । इस कर्म से उदर गुहा (Abdominal cavity) में धनात्मक दबाव के कारण जिगर और तिल्ली पर उद्दीपक (Stimulate) प्रभाव पड़ने से उनकी क्रियाऐं सुधर कर जिगर की मन्दता और मन्दाग्नि दूर होगी ।

(ग) दण्ड धौति

अनामिका अंगुलि के बराबर मोटी तीन लड़ वाली कच्चे सूत की रस्सी बनानी चाहिए । उसके सिरे पर अन्तिम छोर के करीब चौथाई इंच पहिले एक धागा इस प्रकार बांधा जाए कि रस्सी का वह सिरा फूल की भाँति खिल जाए। इसके बाद सारी रस्सी गरम पानी में डुबो दिया जाए, जिससे रस्सी किटाणु रहित हो जाए परन्तु आजकल रस्सी के स्थान पर रबड़ की नली का प्रयोग भी होने लगा है ।

इसके बाद कुंजल की भाँति यथा सम्भव अधिक से अधिक पानी

॥गरम॥ उत्कटासन अथवा कागासन में पीया जाऐं। भर पेट पानी पीने के बाद कुछ झुक कर खड़े होकर गरम पानी में पड़ी हुई रस्सी को निकाल कर मुंह में गले के पास। बगल में धीरे-2 भीतर डालकरउसी प्रकार निगलना चाहिऐं, जिस प्रकार भोजन करते समय मोटी रोटी का ग्रास निगला जाता है। रस्सी का चार अगुंल सिरा बाहर ही रखना चाहिऐं। शेष बचे हुवे भाग गो पकड़ कर धीरे-2 हिलाना चाहिऐ इससे काफी मात्रा में भीतर का पानी बाहर निकलने लगेगा। निकलते हुवे पानी के साथ ही रस्सी को भी धीरे-2 निकालना चाहिऐं। इससे आमाशय की शुद्धि और आमाशय की दिवार में चिपका हुआ कफ या पित दोष बाहर निकल जाता है।

"वस्त्र धौति" और"कुजल"कर्म की तरह "दण्डधौति" भी लाभदायक हैं जिन्हें मन्दाग्नि है, जिनके आमासय की "पाचक रस स्रावक" ग्रन्थियाँ कफ के कारण कम मात्रा में पाचक रस का स्राव करती हैं और जो दमा से पीड़ित है, उनके लिऐ दण्डधौति का अभ्यास बहुत लाभदायक है। इसके द्वारा पित्त और कफ का विरेचन होता है। पित्त प्रकृति के लोगों द्वारा निरन्तर इस क्रिया का अभ्यास करते रहने से किसी प्रकार की पित्त बाधा या पित्त विकार नहीं हो पाते।

वस्ति कर्म

"वस्ति" मूलाधार के समीप है और मूलाधार का स्थान गुदा के समीप है। इसके साफ करने को "वस्ति" कहते हैं। योगा शास्त्रों के ग्रन्थो में "वस्ति" के विषय में लिखा गया है - नाभि प्रमाण जल में उत्कटासन पूर्वक बैठ कर गुदामार्ग में नालिका लगाकर आधार ॥गुदा॥ को सिकोड़ना चाहिऐं। ऐसा करने से बड़ी आतें धुल जाती है।

"वस्ति" कर्म स्वच्छ जलाशय अथवा किसी बड़े टब में नाभि तक पानी में उतरकर की जाती है। इसके लिऐ बांस की छह अगुंल लम्बी और सबसे छोटी अगुंली के बराबर जिसमें छेद हो नली ले लेनी चाहिऐं। उसके बाद उत्कटासन ॥उकडू॥ बैठकर हाथ की बीच की उंगली में घी लगाकर गुदा के अन्दर चारों ओर घुमाना चाहिऐ। तब घी लगी बांस की नली के पतले सिरे को गुदा के अन्दर लगभग चार अंगुल तक धीरे-2 प्रविष्ठ कराया जाऐ। उत्कटासन की स्थिति में बैठे हुऐ "नोलि" कर्म की भाति नाल को फुलाने से पानी गुदा मार्ग द्वारा अपने आप ऊपर की ओर चढ़ने लगेगा। नाली को स्वाभाविक अवस्था में छोड़ते ही पानी अपने आप बाहर आ जाऐंगी। इस प्रकार बड़ी आंत और मलाशय की शुद्धि हो जाऐगी। इस क्रिया को तीन चार बार करने पर ही मल की शुद्धि होती है।

"भक्ति सागर" नामक ग्रन्थ में "वस्ति" कर्म का प्रतिपादन इसी प्रकार से किया गया है :-

"नीर गुदा सों खैचकरि, थामैउदर मझार। कछुक डोल अस बैठकरि, फिर दे ताहिनिकार लिंग गुदा में रोग जो गर्मी के नशि याहि जु वस्ति कर्म है, गुरू बिन पावै नाहिं। जाहि ।।"

हटयोग, आयुर्वेद और एलोपैथिक आदि चिकित्सा

शास्त्रों का वस्ति कर्म भिन्न-2 प्रकार का है । हठयोग में आन्तरिक बल से जल खींचा जाता है । आयुर्वेद में रोगानुसार भिन्न-2 औषिधियों के घृत, तेल और क्वाथ आदि चढ़ाये जाते है । पाश्चात्यों ने इस कर्म के लिए एक यन्त्र का आविष्कार किया है जिसे "एनिमा" डूस कहते है । इस यन्त्र से साबुन मिला कर गुनगुना पानी अरण्डी का तेल तथा ग्लेसरिन आदि मल शोधक औषधि गुदा में चढ़ाई जाती है । परन्तु आजकल बहुसख्यक साधक "वस्ति" कर्म के लिए "ऐनिमा" का प्रयोग ही करते हैं ।

"घेरण्ड संहिता" नामक पुस्तक में वस्ति के दो भेद एक "जल वस्ति और दूसरा "पवन वस्ति" बताऐ हैं । "पवन वस्ति" के ही अन्य नाम "स्थल वस्ति" अथवा शुष्क वस्ति है ।

जल वस्ति -: किसी बड़े टब में नाभि पर्यन्त जल भरकर अथवा नदी या तालाब आदि के शुद्ध जल में उत्कटासन लगाकर बैठ जाऐं और गुदा मार्ग को बार-बार सिकोड़े और बार-2 फैलाऐं । यह इस प्रकार से हो जैसे घोड़ा लीद करने के बाद किया करता है । ऐसा करने से प्रमेहऔर कोष्ठ बद्धता (कब्ज) दूर होता है ।

पवन वस्ति - भूमि पर पश्चिमोत्तान होकर लेट जाऐं, फिर अश्विनिमुद्रा द्वारा धीरे-धीरे वस्ति का चालन करें अथवा गुदा मार्गिका आकुचंन और प्रसारण करे । इसके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होकर पेट में होने वाले आमवात रोग दूर हो जाते हैं ।

"वस्ति" कर्म प्रातःकाल शौचादि से निवृत्त होकर भोजन से पूर्व ही करना चाहिऐ । वस्ति कर्म के बाद खिचड़ी आदि का भोजन शीघ्र ही कर लेना चाहिऐ "वस्ति" कर्म के प्रभाव से गुल्म (गोले का रोग) तिल्ली, पेट सम्बन्धी रोग तथा वात, पित्त और कफ से उत्पन्न होने वाली सारी बिमारियां नष्ट हो जाती है ।

नेति

षट् कर्मों में "नेति" कर्म महत्वपूर्ण माना जाता है । इस कर्म का सम्बन्ध मुख्यतः नासिका है और प्राणायाम के लिऐ श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया में नासिका ही केन्द्र बिन्दु है। इसे मातंगिनी भी कहा जाता है । योग शास्त्र के ग्रन्थों में इस कर्म के कोई दूसरे भेद नहीं है, किन्तु कुछ योगाचार्य साधन भेद से इसके अनेक प्रकार मान लेते है । जैसे जिस "नेति" कर्म में सूत्र (धागे) का प्रयोग किया जाता है, उसे सूत्र नेति, जिसमें जल का प्रयोग किया जाता है उसे "जलनेति", दूध के प्रयोग के कारण दुग्धनेति और घृत (घी) के कारण "घृतनेति" आदि भेद करते है।

योगशास्त्र में मुख्यतः "सूत्रनेति" का ही लक्षण मिलता है जो इस प्रकार है:-

"वितस्ति (बालिस्त भर) चिकने सूत्र (धागा) को नासिका नाल में प्रविष्ट कर, मुख मार्ग से बाहर निकालना- यह सिद्धों द्वारा नेति कही जाती है ।"

इस लक्षण में बालिस्त भर चिकना सूत शब्द व्याख्या की अपेक्षा करता है । कुछ विचारकों के अनुसार चालिस नम्बर के देशी सूत पन्द्रह तांगों को लेकर लगभग तीन बलिस्त लम्बी नेति बनानी चाहिऐं । उसे बीच में मोड़कर आधी बंटली जाये और आधी बिना बटे ही छोड़ दी जाये । बंटे हुऐ भाग को मोम लगाकर चिकना

कर लिया जाऐ । इस प्रकार नेति कर्म के लिऐ सूत्र तैयार हो जाता है । आधुनिक समय में सूत्र के स्थान पर पांच या छ: नम्बर का "केथिटर" प्रयुक्त किया जाने लगा है।

"जलनेति" और "सूत्रनेति" में से पहिले कौनसी नेति करनी चाहिऐ इस सम्बन्ध में योगियों बहुमत प्रथम "जल नेति" करने के पक्ष में है । अत: हम भी पहिले "जलनेति" के विषय में लिखना पसन्द करेंगे ।

<u>जलनेति</u>

प्रात: काल दन्तधावन के बाद जिस नासिका से सांस चलती हो, उसी से चुल्लु में जल लेकर और दूसरी नाक बन्द करके नाक द्वारा जल खींचें । इस प्रकार जल मुख में चला जाऐगा । इस कर्म के प्रभाव से सिर के सारे पिछले भाग में जहां मस्तिष्क का स्थान है गुदगुदाहट और सनसनाहट उत्पन्न होगी । अभ्यास बढ़ने पर ऐसा आगे नहीं होगा । यह "जलनेति" की एक विधि हुई ।

दूसरी विधि में कुछ लोग नासिका के एक छिद्र से जल खींच कर दूसरे छिद्र से जल ~~दूसरे~~ निकालने के कर्म को जलनेति कहते हैं ।

एक समय में आधा किलो से लेकर एक किलो तक जल एक नासिका के छिद्र से खींच कर दूसरे नासिका के छिद्र से निकाला जा सकता है । एक बार एक तरफ से जल खींचना चाहिऐ । जल के लिऐ ऐसा टोंटीदार (गंगासागर) बर्तन होना चाहिऐ जो नासिका के छिद्र में ठीक ढंग से आ जाऐ । पानी गुनगुना गर्म करके ठंडा करने के लिऐ रख दिया जाऐ । इसके बाद दाल में नमक की मात्रा के बराबर सेंधा नमक मिला कर "नेतिपात्र" भर लेना चाहिऐ ।

इसके बाद उत्कटासन में बैठकर सिर को कुछ मोड़कर इस प्रकार झुकना चाहिऐ कि उस ओर के कान का भाग नीचे की ओर हो जाऐ । अर्थात् जिस नासापुट से श्वास चल रहा हो उस नाक के छिद्र को ऊपर की ओर करके जल खींचना चाहिऐ । इससे पानी एक रन्ध्र (छेद) से जाकर दूसरे रन्ध्र से स्वत: निकलने लगेगा । नासिका रन्ध्र से पानी लेते समय मुख को खुला रखना चाहिऐ और मुख के द्वारा श्वास लेना और छोड़ना चाहिऐ । बहुत से व्यक्ति "जलनेति" कर्म को खड़े होकर और झुक करते है, यह ऐसा करना नियमानुकुल नहीं है ।

"जलनेति" से मस्तिष्क सम्बन्धी सभी विकारों में लाभ होता है । सभी प्रकार के सिर दर्द शान्त होकर अनिद्रा और अतिनिद्रा की बिमारी दूर होती है । बुद्धि और स्मृति का विकास होता है । यह "नेति" विद्यार्थियों के बहुत लाभकारी है । यदि इसके साथ "शंखपुष्पी" नामक बूटी का चिकित्सक की सलाह से प्रयोग किया जाऐ, तो बुद्धि और स्मृति में और भी वृद्धि हो सकती है । इसके बालों का सफेद होना, झड़ना आदि दूर होते हैं । नेत्र की बिमारियों में इससे बड़ा लाभ होता है और कान से सम्बन्धित अनेक रोग दूर होते हैं ।

आयुर्वेद के ग्रन्थ "भावप्रकाश" के अनुसार रात्रि के व्यतीत हो जाने पर प्रात: काल उठकर जो मनुष्य नित्य बांयी नासिका से जल पीता है, वह पूर्ण बुद्धि वाला, वलित और पलित (बालों का झड़ना और सफेद होना) से रहित और समस्त रोगों से दूर रहता है ।

आयुर्वेद के ग्रन्थ भावप्रकाश के ही अनुसार रात्रि के व्यतीत हो जाने पर प्रातः काल उठकर जो मनुष्य नित्य वायीं नासिका से जलपिता है ~~वह पूर्ण बुद्धिमान~~ गरुड़ की भांति तेज दृष्टि वाला होता है। ~~बलित और पलित से रहित और समस्त रोगों से दूर रहता है।~~

क्या जलनेति और ~~दुग्धपान~~ उषापान एक ही है अथवा भिन्न-2 है ? इस सम्बन्ध में विचार करने पर हम इस निश्चय पर पंहुचे है कि दोनों पृथक-2 ही है । इस पृथकता को प्रकट करने वाले कारण निम्न हैं :-

1. जलनेति षट्कर्म के अन्तर्गत है, जबकि "उषापान" (प्रातः उठकर जलपीना) षट्कर्म के अन्तर्गत नहीं है ।

2. "जलनेति कर्म प्राणायाम से पूर्व शरीर शुद्धि के लिऐ अनिवार्य है, जबकि उषःपान की अपनी पृथक् सत्ता है ।

3. "जलनेति" का कर्म आरम्भ करते समय निश्चिय आसन में बैठने का नियम है । जैसे इस नेति के समय उत्काटासन में बैठना होता है । परन्तु "उषःपान में ऐसे किसी भी आसन की आवश्यकता नहीं होती । वह शरीर की ~~अवस्था~~ अवस्था के अनुसार खड़े होकर और अथवा बैठकर भी किया जा सकता है ।

4. जलनेति और उषःपान में एक मौलिक अन्तर यह भी है कि जलनेति का सारा कर्म नासिका द्वारा सम्पन्न होता है, जबकि उषःपान का सारा कार्य मुख द्वारा ही होता है

5. जलनेति कर्म करते समय मुख से सांस लेने का नियम है, जबकि उषःपान में नाक से सांस लिया जाता है ।

उपर्युक्त भिन्नताओं को दर्शाने से यह अभिप्राय नहीं है कि "उषःपान" नहीं करना चाहिऐ । "जलनेति" के समय उषःपान के भी अपने लाभ हैं और इन लाभों को "भावप्रकाश" नामक ग्रन्थ में इस प्रकार बताया गया है :-

रात्रि के अन्त में प्रातःकाल जल पीने (उषःपान) के लगातार अभ्यास से अर्श, शोथ, ग्रहणी ज्वर, पेट के रोग, बुढ़ापा, कुष्ठ, मेद (चर्बी) सम्बन्धी विकार, मूत्राघात रक्तपित्त, कान, गला, सिर, कमर का दर्द, आंखों के रोग, वात, पित्त और कफ जनित बिमारियां दूर होती है ।

सूत्रनेति

नेति के लिऐ सूत्र तैयार करने की विधि हम इस प्रसंग में पहिले लिख चुके है । प्रातः काल शौचादि से निवृत्त होकर और दातून के करने के बाद पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख उत्काटासन में बैठकर गर्दन ऊँच्ची रखते हुवे नासिका को शुद्ध कर नेति को पानी में भिगो कर मोम वाले भाग को आगे के हिस्से से थोड़ा झुका कर धीरे से जिस नासिका रन्ध्र से वायु चलायमान हो, उस रन्ध्र में डालना चाहिऐ । जब इसका अग्रभाग जीभ के समीप आ जावे, तब उसे दाहिने हाथ की तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों से पकड़ कर धीरे-2 मुख से सूत्र का अग्रभाग बाहर निकालना चाहिऐ । कुछ साधक तर्जनी और अगुंठे से पकड़ने की बात करते है ।

इसके बाद उसे स्वच्छ कर पुनः दूसरी नासिका से इसी प्रकार प्रविष्ट करके सूत्र निकालना चाहिऐं। इसका अभ्यास हो जाने पर सूत्र के दोनों छोर पकड़कर धीरे-2 इस प्रकार रगड़ना चाहिऐ कि घाव न होने पाये। इस क्रिया को "घर्षण नेति" कहते है। इससे भीतर लगा हुआ कफ, सूत्र के साथ बाहर आ जाता है। कुछ साधक नाक के एक छिद्र से दूसरे छिद्र में भी सूत्र चलाते है। परन्तु कुछ साधक इसे दोषयुक्त मानकर इसकी उपेक्षा करते हैं। उनका ऐसा सोचना ठीक नहीं है। इसका क्रम यह है कि सूत्र नाक के एक छिद्र से पूरक द्वारा जब खींचा जाता है, तो रेचक मुख द्वारा न करके दूसरे नासारन्ध्र से करना चाहिऐ। इस क्रिया के करने में किसी प्रकार का भय नहीं है। नेति का सूत्र डालने में किसी-2 को छींक आने लगती है। इसलिऐ एक-दो सेकंड श्वास प्रश्वास की क्रिया को बन्द करके नेति डालनी चाहिऐं।

"भक्तिसागर" नामक ग्रन्थ में उपर्युक्त "सूत्रनेति" के कर्म को पद्य में इस प्रकार लिखा है।

"मिट्टी जु सूत मंगाय के, मोटी बाटे डोर, ऊपर मोम रसाय के, साधै उठकर भोर ।।
साधै उठकर भोर, डेढ़ बलिस्त की किजै। ताको सीधी करे, हाथ अपने में लीजे ।।
नासारन्ध्र में मेलकर, खींचे अगुंली दोय। फेरि विलोवन कीजिए, नेति कहिऐं सोय ।।

"सूत्रनेति" समाप्त करने के पश्चात् लगभग एक घंटे के बाद गाय का घी हलका गरम करके दस-2 बुंद दोनों नासापुटों में डालना चाहिऐं। इससे घर्षण नेति से होने वाले घिसाव में चिकनाहट होने से सांस लेने में सुविधा रहती है।

"नेतिकर्म" के लाभों के विषय में "भक्तिसागर" ग्रन्थ में लिखा है :-
"नाक, कान अरु दांत को, रोग न ब्यापै कोय/उज्जवल होवे नैन ही, नित नेति कर सोय/

परन्तु हठयोग प्रदीपिका में "भक्तिसागर" के लाभों से भी अधिक लाभ नेतिकर्म के बताऐं गये है। इसके अनुसार "नेति" कर्म कपाल का शोधन करने वाला और दिव्य दृष्टिप्रदान करने वाला होता है। कन्धे, भुजा और सिर की सन्धि के ऊपर के सारे रोगों को यह कर्म शीघ्र नष्ट करता है।

दुग्ध नेति और घृतनेति

इन दोनों नेतियों की विधि और प्रक्रिया पूर्ण रूप से "जलनेति" के समान है। केवल अन्तर यह है कि "जलनेति नाक द्वारा मुंह में आये पानी को बाहर बाहर निकलने दिया जाता है। परन्तु "दुग्धनेति" और "घृतनेति" में नाक द्वारा मुंख में आये दुध अथवा घी को पीया जाता है।

नौलि:-

योग के साधकों में इस कर्म के लिऐ नौलि, नौलिका, नलक्रिया और न्यौलि आदि नाम प्रसिद्ध हैं। साधकों के द्वारा नौलि की परिभाषा इस प्रकार दी गई है।

"कन्धों को झुकाऐ हुऐ अत्यन्तवेग के साथ जल की भंवर के समान अपनी तुन्द (पेट) को दाहिने और बायें भागों में घुमाना "नौलि कर्म होता है।

प्रथम स्वस्तिक आसन या पद्मासन में बैठकर रीढ़ को धनुष की भांति कर लेना चाहिए फिर दोनों हाथों के पंजों को घुटनो पर रखकर छाती को फुलाना चाहिए। इसके बाद सांस को दोनों नासापुटों से बाहर निकाल कर उड्डियान बन्ध करके हाथों से घुटनों के ऊपरी भाग पर बल देकर पेडू के ठीक मध्य की हड्डी (प्यूबिक बोन (पिटपास्थि)) और नल का मध्य स्नायु को नीचे को और आगे को गति देनी चाहिये। ऐसा करने से वह स्नायु संकुचित होगा और दूसरे स्नायु से अलग प्रतीत होगा। इसके बाद गुरु द्वारा बताई गई युक्ति से पेट पानी की भंवर की भांति दायें बायें घुमाना चाहिए। यही नौलि कर्म है यह क्रिया खड़े होकर उड्डियान बन्ध की भांति भी की जा सकती है। इसको करने की एक विधि है ~~(इस विधि में उड्डियान बन्ध)~~।

इसी से मिलता-जुलता "नौलि" का लक्षण "भक्तिसागर" में इस प्रकार मिलता है:-

न्यौली पद्मासन सो करे। दोनो पंजे घुटनों पर धरे।।
पेट रु पीठ बराबर होय। दहने बायें नलै बिलोय।।
जो गुरु ताहि करके दिखाये। न्यौली कर्म सुगम करि पाये।

इस कर्म में पेट का मोटापा कम होना चाहिए, अन्यथा "नौलिकर्म" में पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती। पेट की स्थूलता कम करने के लिऐ शौचादि से निवृत्त होकर रेचक द्वारा वायु को बाहर रोक, बिना देह हिलाऐ, केवल मनोबल से पेट को बायें से दायें और दायें से बायें चलाना सोचे और इसी के अनुकुल कोशिश भी करे इसी प्रकार प्रातः और सायं पसीना आने तक अभ्यास करते-2 पेट की स्थूलता जाती रहेगी।

इसके बाद यह सोचना चाहिऐ कि दोनों कोखें दब गई और बीच में दोनों ओर से दो नल जुड़ कर मूलाधार से हृदय तक गोलाकार खम्ब खड़ा होगया है यही खम्बा जब बन्ध जाऐ तब नौलि सुगम हो जाती है। मनोबल और अभ्यास बढ़ाने से दायें और बायें घुमने लगती है। इसी चलाने के प्रयास में छाती के समीप, गले पर और माथे पर नाड़ियों का द्वन्द्व मालूम पडता है। जिसका पेट हल्का है और जो कोशिश के साथ अभ्यास करता है, उसको एक या दो महीने के बीच में "नौलि" सिद्ध हो जाती है।

शास्त्रों में यद्यपि इस कर्म के भेद या प्रकार नहीं बताऐ गये है तथापि क्रिया के भेद से इसे तीन प्रकार का माना गया है। 1. मध्य नौलि 2. दक्षिण नौलि, 3. वामनौलि।

1. मध्य नौलि:-

इसमें पैरों में एक डेढ़ फीट का अन्तर करके खड़ा होना चाहिए और आगे झुकना पड़ता है। इसके बाद हाथ के पंजे घुटनों या जांघो पर रखकर आगे झुकना पड़ता है। ठोढ़ी को छाती से लगाकर रखिऐ। इसके बाद श्वास को बाहर रेचक करके कुम्भक की स्थिति में पेट से पूर्णत चिपका लेना अच्छा होता है (~~निकाल कर~~ कुछ आगे और झुकिऐ और पंजों से घुटनों को जोर से दबाइऐ

पार्श्व भाग से पेट को सिकोड़ कर दोनों नलों को बाहर निकालने का प्रयास कीजिए। बस "यही मध्य नौलि" की क्रिया है।

2. दक्षिण नौलि :- इसमें पूर्व की भांति खड़े होकर सांस बाहर निकालना चाहिए और जाँघ को दायें हाथ के पंजे से जोर से दबाना चाहिए। कुछ दाँयीं और झुकते हुए सारे शरीर का भार दाँयीं और रखना चाहिए। इस प्रकार करने से सामने वाली दोनों नौलियों में से दाँयीं नौलि बाहर आ जाएगी।

3. वामनौलि - इस नौलि की क्रिया भी दक्षिण नौलि के समान है। इसमें दाँयीं जंघा के स्थान बायीं जंघा पर बाँयां हाथ रख कर दबाव डालना होता है।

"नौलि कर्म" का आरम्भ करने से पूर्व यदि पश्चिमतासान और मयूरासन का थोड़ा सा अभ्यास कर लिया जाए तो यह कर्म शीघ्र सिद्ध हो जाता है। जब तक आँत पीठ के अवयवों से भलिभाँति पृथक् न हो, तब तक आंत उठाने की क्रिया सावधानी से करे, अन्यथा आँतें निर्बल हो जाएगी।

कुछ योगाभ्यासियों के मतानुसार धौति और वस्ति इन दो कर्मों का "नौलिकर्म" के बिना होना सम्भव नहीं है। कुंजल शंख प्रक्षालन आदि कर्म भी नौलिकर्म के बिना अधुरे रह जाते हैं। वज्रौलि तो "नौलिकर्म" के सही अभ्यास के बिना ठीक तरह से होनी बिल्कुल भी सम्भव नहीं है। यह कर्म हठ योग के "षट्कर्मों" सबसे उत्तम माना जाता है। नौलि की महत्ता तथा लाभ बताते हुए "भक्ति सागर में लिखा है कि :-

मैल पेट में रहने न पावे। अपना वायु तासों वश आवे।।
तापतिली अरु गोलाशूल। रहन पावे नेक न भूल।
और उदर के रोग कहावें। सोभी रहने नहि पांव।

"नौलि" का लाभ बताते हुये हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है कि नौलि कर्म मन्दाग्नि का भली भान्ति दीपन और अन्नादि का पाचन और सर्वदा शोषण करती है। यह "नौलि" हठयोग की क्रियाओं में सर्वोत्तम है।

यह कर्म हठयोग की क्रियाओं में श्रेष्ठ इसलिए है कि नौलि कर्म जान जाने पर तीनों बन्ध (उड्डियान, जालन्धर, मूल) सुगम हो जाते है। इस लिए यह प्राणायाम की सीढ़ी है। नौलि कर्म की नकल अभी तक यन्त्रों द्वारा पाश्चात्य शोधकर्ता नहीं कर सके है।

त्राटक :- त्राटक :-

यौगिक षट्कर्म का यह एक महत्वपूर्ण कर्म है। इसके अभ्यास से योगी अपने लक्ष्य की प्राप्ति के अधिक समीप पहुँचता है। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार इसकी परिभाषा इस प्रकार है:-

एकाग्रचित्त हुआ मनुष्य निश्चय दृष्टि से सूक्ष्म लक्ष्य को तब तक देखे जब तक अश्रुपात न होवे, इसे ही आचार्यों ने "त्राटक कर्म कहा है।

चरण दास ने भी उपर्युक्त परिभाषा को पद्यबद्ध करते हुए लिखा है:-

"त्राटक कर्म टकटकी लागे । पलक पलक सो मिले न लागे ।।
नैन उघारे ही नित रहै । होय दृष्टि फिर गुरु देव कहै "।।
आखं उलटि त्रिकुटि में आनो । यह भी त्राटक कर्म पिछानो ।।
जैसे ध्यान नैन के होई । चरणदास पूरण सो होई ।

"त्राटक कर्म" में चित्त की एकाग्रता और लक्ष्य की ओर दृष्टि की निश्चलता ये दो महत्वपूर्ण स्थितियाँ होती हैं। इनमें से किसी एक के बिना त्राटक कर्म की सिद्धि नहीं हो सकती । त्राटक कर्म में सामान्यता किसी एकान्त स्थान में पद्मासन या सिद्धासन की स्थिति में बैठकर लगभग डेढ मीटर की दूरी पर स्थित वस्तु विशेष को लक्ष्य या साध्य बनाकर निरन्तर उसी ओर देखा जाता है । इसके लिए एक फुट लम्बे और उतने ही चोड़े एक सफेद कागज के ठीक बीच में एक अठन्नी या रूपये के बराबर गोल हरे या काले रंग का बिन्दु बनाकर उसे अपने सामने ही दिवार पर टांग देना चाहिए। अथवा किसी ऐसी दीवर पर जिसकी ऊंचाई लगभग ढाई फीट हो, एक दीपक जलाकर रख देना चाहिये । जिस स्थान पर दीपक रखा जाए वह निर्वात (बहुत ही कम वायुवाला) होना चाहिए । इसके बाद उस का कागज या दीपक से लगभग डेढ मीटर की दूरी पर पद्मासन या सिद्धासन की स्थिति में कागज के गोल बिन्दु अथवा दीपक की लौ को तब तक अपलक निहारते रहना जब तग आखों में आँसू न आ जाऐ । आसूं गिरने से पूर्व ही आँखों की दृढता के साथ बन्द कर लेना चाहिऐ ।

आजकल कुछ सम्प्रदायों में लकड़ी पर बिन्दु और दीपक की लौ पर दृष्टि केन्द्रित करने के स्थान पर लाल रंग का प्लास्टिक का मध्य भाग से कुछ उभरा हुआ गोल चक्र प्रयोग में लाया जाने लगा है और इसको "शिवनेत्र" का नाम दिया गया है । सैना या पुलिस विभाग में निशाना लगाने का अभ्यास करते समय "त्राटक" सिद्धान्त का ही सहारा लिया जाता है ।

"त्राटक" कर्म में निरन्तर पन्द्रह या बीस मिनट तक उसी लक्ष्य या केन्द्र बिन्दु पर अविचल दृष्टि को स्थिर रखने पर एक विशेष प्रकाश प्रतित होने लगेगा और इसके चारों ओर छोटी-2 प्रकाश की किरणें दिखाई देने लगेंगी । उस समय लक्ष्य या केन्द्र बिन्दु को छोड़कर प्रकाश को देखने का प्रयास नहीं करना चाहिए । त्राटक की सिद्धि तब होती है जबकि जिस किसी भी दिशा में दृष्टि जमाकर साधक खड़ा हो उसी दिशा में प्रकाश ही प्रकाश दिखाई दे ।

"हठयोग" के ग्रन्थों में "त्राटक" के किसी भी प्रकार के भेदों का वर्णन नहीं मिलता । परन्तु उपनिषदों में त्राटक कर्म के तीन भेद बतलाऐ गये है । 1. बाह्य, 2, मध्य, 3. आन्तर ।

चन्द्रमा, प्रकाशित नक्षत्र, पर्वत के तृणाच्छादित शिखर अथवा अन्य किसी दूरवर्ती लक्ष्य पर दृष्टि स्थिर करने की क्रिया को "ब्राह्य त्राटक" कहते है । केवल सूर्य

त्राटक करने की मनाही है। इसका कारण यह है कि सूर्य और नेत्र ज्योति एक ही प्रकाश की शक्ति होने से नेत्र शक्ति सूर्य में आकर्षित होती रहेगी। जिससे नेत्र दो तीन मास में कमजोर हो जायेंगे। यदि सूर्य पर "त्राटक" करना हो तो जल में पड़े हुए सूर्य के प्रतिबिम्ब पर करे। इस प्रकार किसी दूरवर्ती पदार्थ पर "त्राटक" करने की क्रिया को "बाह्य त्राटक" कहते है।

काली स्याही के कागज पर लिखे हुये "ॐ", अथवा बिन्दु किसी देव मूर्ति अथवा भगवान् के चित्र, मोमबत्ती तेल अथवा घी अचल बत्ती, अथवा बत्ती के प्रकाश से प्रकाशित धातु की मूर्ति, नासिका के अग्रभाग या समीपवर्ती किसी अन्य लक्ष्य पर दृष्टि स्थिर करने की क्रिया को "मध्यत्राटक" कहते है। केवल भ्रूमध्य में खुले नेत्र से देखने की क्रिया आरम्भ में अधिक समय न करे अन्यथा आखों की नाड़िया निर्बल होकर दृष्टि कमजोर हो जाऐगी।

हृदय अथवा भ्रूमध्य में नेत्र बन्द रखकर एकाग्रता पूर्वक चक्षुवृत्ति की भावना करने को आन्तर त्राटक कहते हैं। इस आन्तर त्राटक और "ध्यान" में बहुत अंशो में समानता है। क्योंकि दोनों में आंखे बन्द करने का नियम है। शेष अन्य सभी प्रकार के "त्राटकों" में खुले नेत्रों से स्थिर दृष्टि से लक्ष्य देखना होता है। भ्रूमध्य में "त्राटक" करने से आरम्भ में कुछ दिनों तक कपाल में दर्द हो जाता है, तथा नेत्र की बरौनी में चंचलता प्रतीत होने लगती है। परन्तु कुछ दिनों के बाद नेत्रवृत्ति में स्थिरता आ जाती है। हृदय देश में वृत्ति की स्थिरता के लिऐ प्रयत्न करने वालों को ऐसी प्रतिकुलता नहीं होती।

इन तीनों प्रकार के "त्राटक" के अधिकारी भी भिन्न-2 है। जिस साधक की पित्तप्रधान प्रकृति हो, जिसके नेत्र, मस्तिष्क, नासिका या हृदय में जलन रहती हो आखं में फुला या जाला अथवा अन्य कोई रोग हो, वह केवल आन्तर त्राटक का अधिकारी है। यदि वह बाह्य लक्ष्य पर त्राटक करेगा तो नेत्र को हानि पहुचेंगी। जिनकी दृष्टि दूर की वस्तुओं के लिऐ कमजोर हो, जिनकी वात प्रधान प्रकृति हो, अथवा जिन्हें शुक्र (वीर्य) की निर्बलता हो, वे समीपस्थ मूर्ति आदि पर "त्राटक" न करें। जिसकी दृष्टि दोष रहित हो, त्रिधातु (वात, पित्त, कफ) सम हो, कफ प्रधान प्रकृति हो, नेत्र की ज्योति पूर्ण हो वे मध्य त्राटक चन्द्रमादि आदि उज्जवल लक्ष्य पर "त्राटक" करें। त्राटक के अभ्यास से नेत्र और मस्तिष्क में उष्णता बढ़ती है। अत: जलनेति अवश्य करनी चाहिऐ।

"त्राटक" नेत्र रोग नाशक है। यह तन्द्रा और आलस्य आदि को दूर करता है। इसलिऐ प्राणायाम से पूर्व इसको करने का विधान है। हठयोग प्रदीपिका में "त्राटक" के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुवे कहा गया है कि त्राटक कर्म संसार में इस प्रकार गुप्त रखने योग्य है जिस प्रकार सोने की पेटी संसार में गुप्त रखी जाती है। "त्राटककर्म" गुप्त रखने से अधिक शक्ति शाली और प्रकाशित करने पर शक्ति हीन हो जाता है।

हिप्नोटिज्म (दृष्टिबन्ध) और "त्राटक" में क्या अन्तर है? इसको भी स्पष्ट करना प्रसंगानुकूल होगा। हिप्नोटिज्म मे सूचना देकर किसी चमकीली वस्तु

पर पात्र की दृष्टि साधकर कृत्रिम निन्द्रा लायी जाती है। हिप्नोटिज्म में बहिर्मन सो जाता है और अन्तर मन जागृत रहता है। अन्तरमन पर डाली गई सूचना से पात्र अत्यधिक प्रभावित होता है। हिप्नोटिज्म में आज्ञा या सूचना देकर ज्ञानेन्द्रियों को भ्रम में डाल सकते है। मायिक दृश्य पात्र के सम्मुख उपस्थित किये जा सकते हैं। हिप्नोटिज्म शक्ति का विकास करने के लिऐ आत्मविश्वास, दृढ संकल्प, वेधक दृष्टि, स्वस्थ शरीर, धैर्य और दृढता, शुद्ध आहार विहार और शान्तचित्त आदि गुणों का होना आवश्यक है।

हिप्नोटिज्म में वेधक दृष्टि अर्थात् दृष्टि के आकर्षण को दूसरे के मन के भीतर प्रविष्ट करने की योग्यता को प्राप्त करने के लिऐ वही उपाय अपनाऐ जाते है, जो कि "त्राटक कर्म" के लिऐ कहे गये है। यौगिक दृष्टि से त्राटक करते समय साधक में एकाग्रता होनी चाहिऐ, परन्तु हिप्नोटिज्म में एकाग्रता होने पर भी नेत्रों को बल प्रदान करने वाले मन्त्रों का बार-2 चिन्तन करना पड़ता है। जैसे मेरे नेत्रों के ज्ञानतन्तु बलवान् हो रहे है। मेरे नेत्र आकर्षक और प्रभावशाली हो रहे हैं। मै निर्भय हूं। मै ऊँचा सिर करके सब के सम्मुख देख सकता हूं आदि-आदि।

हिप्नोटिज्म और त्राटक दोनों ही "इच्छा शक्ति" का तत्व सबसे प्रबल माना जाता है। मन का स्थिर करना ही इस शक्ति का मूल है। "त्राटक कर्म" का और हिप्नोटिज्म दोनों ही मन के खेल हैं। हिप्नोटिज्म के मर्मज्ञ डा0ब्रेड का हिप्नोटिज्म का तरीका "त्राटककर्म" से किसी न किसी रूप में मेल रखता है। डा0 ब्रैड के अनुसार किसी चमकीली वस्तु को पात्र की आखों से जरा ऊपर मस्तिष्क के पास ले जाकर उसे उस पर दृष्टि रखने को कहो और कहो कि तुम्हारी आखें अब भारी हो रही है -बहुत भारी हो रही है। अब तुम आखें बन्द कर लो। अब तुम आखें नहीं खोल सकते, चाहे जितना प्रयत्न करो। सो जाओ-सोजाओ- सो जाओ। गहरी निद्रा में चले जाओ। प्रगाढ नींद आ रही है। इसप्रकार हिप्नोटिज्म (पात्र, व्यक्ति) की नींद की अवस्था में आने पर इस विधि द्वारा - मानसिक रोगो का ईलाज किया जा सकता है। हिप्नोटिज्म में "सूचना" का बड़ा महत्व है। "सूचना" द्वारा पात्र को कृत्रिम निद्रा में सुलाया जाता है। किसी की इच्छा के विरुद्ध हिप्नोटिज्म का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। "त्राटककर्म" में सूचना का कोई महत्त्व नहीं है। इस कर्म को दो-चार वर्ष निरन्तर करने से साधक के संकल्प सिद्ध होने लगते हैं। उसे दूसरों के हृदय का भाव मालूम होने लगता है। सुदूर स्थान में स्थित पदार्थ अथवा घटना ठीक प्रकार से ज्ञान हो जाता है।

6. कपालभाति कर्म

"हठयोग प्रदीपिका" नामक ग्रन्थ में "कपाल भान्ति" कर्म की परिभाषा इस प्रकार दी गई है।

"भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौं ससंभ्रमौ ।कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषिणि ।।"

अर्थात् लोहार की भस्त्रा [धौंकनी भाथी] के समान ससंभ्रम [अत्यन्त शीघ्रता] से क्रमशः रेचक पूरक प्राणायाम को करना "कपालभाति" कहलाता है।

घेरण्ड संहिता में "कपालभाति" के तीन भेद बताऐ है -

1. वातकर्म कपालभाति, 2 व्युत्क्रम कपालभाति, और 3. शीतकर्म कपाल भाति ।

विधि :-

"कपालभाति" कर्म को करने की तीन विधियां प्रचलित हैं।

1. वातकर्म कपालभाति :-

इस विधि में पद्मासन में बैठकर दाहिने हाथ की अनामिका [अंगूठे के बाद की तीसरी अंगुलि] और मध्यमा अंगुलि से नासिका के बायें छेद को बन्द तथा अंगूठे से दाएं स्वर को बन्द करना चाहिऐ । अब अंगूठा हटाकर बायें स्वर को बन्द किऐ हुऐ ही दायें स्वर से यथासाध्य बल पूर्वक शीघ्रता से "रेचक" प्राणायाम करना चाहिऐ । फिर तत्काल दाएं स्वर से "पूरक" प्राणायाम करके अंगूठे से दायां नासिका छिद्र बन्द कर लेना चाहिऐ । अंगूठे से दायांस्वर बन्द करके दोनों अंगुलियों को हटाकर बायें छिद्र से रेचक करना चाहिऐ और उसी से पुनः तत्काल "पूरक" करना चाहिऐ । इसके बाद दायें छिद्र से "रेचक" व "पूरक" करना चाहिऐ । आरम्भ का अभ्यास दस बार करना चाहिऐ । फिर शनैःशनैः बढ़ना चाहिऐ ।

2. दूसरी विधि में दोनों नासिका छिद्रों से एक साथ उपर्युक्त रीति से वायु को अन्दर खींचना और बाहर निकाला जाता है ।

3. तीसरी विधि में दाईं नाक बन्द करके बाईं नाक से उपर्युक्त रीति से "रेचक" करना है। इसी प्रकार बाईं नाक बन्द करके दाईं नाक से उसी संख्या में रेचक-पूरक करना होता है ।

"व्युत्क्रम कपाल भाति" कर्म में नासिका के छिद्रों से जल पीकर मुख से जल निकालना पड़ता है । इसे भी अनुलोम और प्रतिलोम रीति से किया जाता है "शीतकर्म कपालभाति" में मुख में जल भर नासिका छिद्रों से निकाला जाता है । वस्तुतः "व्युत्क्रम कपालभाति" और "शीतकर्म कपालभाति" को नेतिकर्म के अन्तर्गत ही माना जाना उचित है ।

लाभ -

शास्त्रीय बचनों के अनुसार इस कर्म को निरन्तर करने से कफ दोष का शमन होता है। [इसी प्रकार कफ दोष का शमन होता है।] कफ बार-2 ऊपर आता हो अथवा जब सुषुम्ना अथवा फेफड़ों में सांस की नली से कफ बार-2 ऊपर आता हो अथवा जुकाम होने की स्थिति में जब सांस की नलियों से बहुत अधिक मात्रा में श्लेष्मा [कफ] चिकना प्रदार्थ] का बहाव होता है और "नेति" तथा "धौति" कर्मो से इच्छित लाभ नहीं होता, तब "कपालभाति" बहुत ही लाभदायक होती है । इस कर्म से फेफड़े और सारी की सारी कफवाह नाड़ियों में इकठ्ठा हुआ कफ कुछ जल जाता है और पसीने द्वारा बाहर निकल जाता है । जिससे फेफड़ों की शुद्धि होकर वे शक्ति शाली हो जाते हैं और श्वास प्रश्वास के समय उनका पर्याप्त विस्तार हो जाता है ।

साथ-2 सुषुम्ना, मस्तिष्क, और आमाशय की शुद्धि होकर पाचन शक्ति तीव्र होती है। रक्त शुद्ध होता है। और मुख पर कान्ति आती है।

यदि यह कर्म अधिक वेग पूर्वक किया जाएँगा तो किसी नाड़ी में आघात पहुँच सकता है। और यदि शक्ति से अधिक प्रमाण में "कपालभाति" की जाएँगी तो फेफड़ों में शिथिलता आ जाएँगी। जिससे वायु को बाहर फैंकने की शक्ति कम हो जाएँगी। फेफड़ों में वायु रहकर वार-2 डकार आती रहेगी। इस कर्म को करने वालों को खिचड़ी अथवा दूध भात लेना चाहिऐ। परन्तु यह बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उरःक्षत (छाती का घाव), हृदय की निर्बलता, वमनरोग, हिचकी, स्वरभंग, मन की भ्रमित अवस्था, तेज बुखार, निद्रानाश, उच्चरक्तचाप, और अम्लपित्त (एसेडिटी) के दोषों के समय यात्रा में और जब वर्षा हो रही हो, तब यह कर्म नहीं करना चाहिऐ।

कपाल की शोधक क्रिया होने से इसे "कपाल"भाति कहते हैं। यह कर्म नाक के मेल को चूस कर उसे बाहर निकालता है। प्राणायाम से पूर्व इसके करने पर सारा श्वसन तन्त्र सक्रिय हो जाता है। इसके अभ्यास से रक्त में कार्बनडाइआक्साइड का स्तर नीचा हो जाता है। फेफड़ों के सभी प्रकोष्ठ सक्रिय होकर रक्त को पर्याप्त मात्रा में आक्सीजन प्रदान करते हैं। इससे भूख में भी वढ़ोतरी होती है। यह अल्प रक्तचाप में भी लाभकारी है।

इस प्रकार "षट्कर्मों" में से निम्नलिखित पांच कर्म शरीर के विभिन्न अवयवों की शुद्धि करते है :-

1. नेति, 2. धौति, 3. नौलि, 4. कपालभाति, और 5. वस्ति।

(क) उर्ध्व जत्रु (नाक, कान और मस्तिष्क) की शुद्धि नलनेति और कपालभाति से होती है।

(ख) आमाशय की शुद्धि कुंजल और दण्डधौति से होती है।

(ग) आंतो की शुद्धि के लिऐ नौलि और बड़ी आतों की शुद्धि के लिऐ वस्ति लाभ दायक है।

छठा कर्म "त्राटक" शरीर की अपेक्षा मन से अधिक सम्बन्धित है। यह "षट्कर्म" को धारणा, ध्यान और समाधि के समीप ले जाता है। प्राणायाम की सिद्धि के लिऐ उपर्युक्त "षट्कर्म" का अभ्यास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जिसके शरीर में मेद (चरबी) की अधिकता और श्लेष्मा की वृद्धि हो उन्हें प्राणायाम की सिद्धि के लिऐ "षट्कर्मों" का नियमित अभ्यास करना चाहिऐं। हठयोग में शरीर की शुद्धि के लिऐ पहिली सीढ़ी रूप यह "षट्कर्म" शरीर को शुद्ध, स्वस्थ एवं हल्का बना कर मन को निर्मल और प्रसन्न रखता है। "षट्कर्म" के पश्चात यदि प्राणायाम किया जाऐ तो अनायास उसकी सिद्धि हो जाती है।

प्राणायाम में उपयोगी बन्ध और मुद्रा

"बन्ध और मुद्रा" शारीरिक दृष्टि से अन्त स्रावी ग्रन्थियों को उत्तेजित करके उनसे उचित मात्रा में अन्तः स्राव उत्पन्न करके शरीर की अनेक क्रियाओं को व्यवस्थित करती है। "हठयोग प्रदीपिका" में दसमुद्रा और बन्ध बताये गये है। परन्तु हम शारिरीक लाभ को ध्यान में रखकर और प्राणायाम में सहायक कुछ "बन्ध" तथा "मुद्राओं" की जानकारी ही यहां प्रस्तुत कर रहे है।

हठ योग के अनुसार प्राणायाम की क्रियाविधि में तीन प्रकार के बन्धों का प्रयोग किया जाता है। इन बन्धों के प्रयोग से प्रायाणाम के अभ्यास में सहायता मिलती है। त्रिबन्ध निम्न प्रकार है :-

1. मूल बन्ध - अधः प्रदेशा दाकुञ्चनमिति मूल बन्धः। अर्थात् अधः प्रदेश (गुदा) का आकुञ्चन करना मूल बन्ध कहलाता है।

विधि -

उत्तर अथवा पूर्वाभिमुख पद्मासन, सिद्धसन या स्वस्तिकासन में में बैठकर शरीर को स्थित कर गर्दन को सीधी और सरल रखकर अपने गुरु एवं इष्टदेव को प्रणाम करके दाहिने नथुने को दाहिने हाथ के अंगूठे से दबाकर बाएं नथुने के द्वारा उसको रेचन करके पेट खाली कर देना चाहिये। इससे पेट अन्दर पृष्ठभाग की ओर दब जाऐगा। उसको उसी स्थिति में रखकर नासिका के बांऐ नथुने से धीरे-2 वायु अन्दर की और खीचना चाहिऐं। (जिस प्रकार कमल नाल से मुख के द्वारा पानी धीरे-2 खींचा जाता है/उसी प्रकार बाये नासामार्ग द्वारा भी वायु धीरे-2 अन्दर खीचना चाहिऐं) बाएं नासामार्ग के द्वारा वायु अन्दर खींचते समय चार, आठ या सोलह मात्रा पूर्वक प्रणव का उच्चारण करना चाहिऐं। (चुटकी बजाने में जो समय लगता है उसे एक मात्रा कहते है) इससे उदर अपने आप पूरित होकर अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जाऐगा। इस समय नाभि में अपने इष्टदेव का स्मरण पूर्वक ध्यान करना चाहिऐं और मूल बन्ध का प्रयोग करना चाहिऐं।

प्राणायाम करने के समय मूल बन्ध तो आरम्भ से अन्त तक दृढ़ लगा ही रहना चाहिऐं। गुदा के ऊपर के भाग को दृढ़ता पूर्वक सङ्कुचित रखना यह मूल बन्ध है। इस मूल बन्ध से अपान तत्त्व ऊपर की ओर आकर्षित होगा। यदि मूल बन्ध दृढ़ होगा तो मल-मूत्र का त्याग नियमित रीति से होता रहेगा। मलावरोध नहीं होगा। रक्ताभिसरण क्रिया बलवती बनने से नाद खुल जायेगें। नाड़ियां मल दोष के जल जाने से शुद्ध हो जाएंगी। कुण्डलिनी जाग्रत होगी अर्थात् अपान तत्त्व प्राणतत्त्व के साथ मिल कर मस्तिष्क में प्रवेश करने लगेगा। यदि मूल बन्ध दोष वाला होगा तो फुप्फुसों को आघात पहुंचाता रहेगा, जिससे वे निर्बल बनते जायेंगे। जैसे दरवाजे के किवाड़ में कील लगाने के समय बढ़ई एक तरफ से कील ठोकते है और दूसरी तरफ से दृढ़ आधार रखते हैं, नहीं तो किवाड़ के सन्धिस्थान ढीले पड़ जाते हैं और सारे दरवाजे को नुकसान पहुंचाता है। इसी प्रकार मूल बन्ध

ठीक न होने से फुस्फुस और शरीर को हानि पहुंचती है । मलावरोध हो जाता है, मल बकरी की मींगनी की तरह का बन जाता है, और शरीर में थकावट मालूम होती है । जिस नासिका मार्ग से पूरक किया जाता हो उसी से रेचक किया जाय तब एक प्राणायाम कहलाता है ।

2- जालन्धर बन्ध -

"कण्ठकुञ्चन पूर्वक चिबुकस्य हृदि स्थापनं जालंधर बन्धः अर्थात् ठोड़ी को कण्ठ कुंचन पूर्वक हृदय के पास स्थापित करना (ठोड़ी को हृदय से चार अंगुल ऊपर कण्ठ कूप में लगाना) "जालंधर बन्ध कहलाता है ।

विधि

मस्तिष्क को झुकाकर चिबुक (ठोड़ी) को कण्ठ और धड़के सन्धिस्थान में इस प्रकार लगाये कि जिससे कण्ठ स्थित विशुद्धि चक्र पर दबाव पड़े । इसकी पूरक करके तुरन्त जालन्धर बन्ध लगाना चाहिये । यह बन्ध सम्यक् प्रकार से लगने पर कण्ठ स्थित श्वास मार्ग का निरोध होता है, जिससे कुम्भक के समय फुस्फुस कोषों में से वायु उछलकर घण्टिका के ऊपर के भाग में आघात नहीं करती । जालंधर बन्ध से समस्त शरीर के ज्ञान तन्तु बलवान होते हैं । कारण जालन्धर बन्ध (विशुद्धि चक्र) का सम्बन्ध पादाङ्गुष्ठ, गुल्फ, जानु (घुटने), ऊरु (जंघा), सीवनी लिङ्ग, नाभि हृदय, ग्रीवा विशुद्धि चक्र से नीचे का भाग, कण्ठ देश (विशुद्धि चक्र से ऊपर का भाग) लम्बिका (घंटिका), नासिका, भ्रू, कपाल, मूर्द्धा (कान के पीछे का भाग) और ब्रह्म रन्ध्र इन सोहल आधार स्थानों के साथ है । यद्यपि ज्ञान तन्तु का केन्द्र स्थान मस्तिष्क है विशुद्धि चक्र नहीं है तथापि नीचे के अवयवों का नियमन केन्द्रस्थान के अनुकुल करना और नीचे के अवयवों का सन्देश ऊपर केन्द्र स्थान में भेजना ये दोनों कार्य विशुद्धि चक्र कहलाते हैं । अतः प्राणायाम के समय मस्तिष्क को वायु का आघात न पहुँचना जालन्धर बन्द पर ही निर्भर करता है । इससे स्पष्ट है कि जालन्धर बन्ध सुदृढ रहने से मस्तिष्क और समस्त ज्ञान तन्तु का रक्षण होता है । जालन्धर बन्ध दूषित होगा तो अनेक स्थानों में विकृति होने लगेगी । खास करके नासिका नेत्र, मस्तिष्क और कण्ठस्थान में विकार होगा, किसी-किसी को वात प्रकोप जन्य व्याधि भी हो जाती है ।

जालन्धरबन्ध का अभ्यास करना हो, तो पांच मिनिट से आरम्भ होकर शनैः शनैः समय बढ़ाना चाहिये । एक साथ अधिक समय तक जालन्धर बन्ध किया जायेगा तो गले के पीछे के भाग की नस में दर्द हो जायगा । यदि ऐसा हो जाये तो गोघृत अथवा नीलगिरी तेल की मालिस करनी चाहिये, दो एक दिन विश्राम करने पर दर्द मिट जाऐगा ।

3- उड्डियान बन्ध- विशेष०।

(प्रयत्नविशेषात् नाभिप्रदेशस्य पृष्टत आकर्षणमुड्डियान बन्धः।

अर्थात् - प्रयत्न विशेष के द्वारा नाभि प्रदेश नाभि के ऊपर और नीचे चार अंगुल

उदर को पीठ की ओर खींचना उड्डियान बन्ध कहलाता है।

विधि-

कुम्भक के बाद रेचक करते समय पहले उड्डियान बन्ध लगा कर जालन्धर बन्ध खोल देना चाहिएँ। उदर स्थित अन्त्रों (आन्त) के पीठ की ओर संकोच करने को उड्डीयान बन्ध कहते है। अन्त्र संकोच से फुस्फुसों के कोशों का भी संकोच होने लगता है, जिससे फुसफुस कोश बलवान होते है। इससे त्रि धातुओं के विकार से उत्पन्न सब रोग नष्ट हो जाते हैं। त्रिधातु सम अवस्था वाले बनते हैं। सुषुम्ना मार्ग शुद्ध होकर प्राण तत्त्व ऊर्ध्वगमन करता है। उड्डियान बन्ध को शास्त्रकारों ने "मृत्युमातङ्गकेसरी" अर्थात् मृत्युरूप हस्ती को पछाड़ने वाला केसरी सिंह बतलाया है। तीनों बन्धों में उड्डीयान को उत्तम माना है। उड्डीयान बन्ध दोषयुक्त होगा तो फुसफुस और अमाशय निर्बल बन जाऐंगा।

बिना बन्धों के प्राणायाम कदापि नहीं करना चाहिएँ, क्योंकि इससे हानि की सम्भावना है और इन बन्धों के बिना प्राणायाम के अभ्यास से वास्तविक सफलता प्राप्त नहीं होती।

विशेष प्राणायाम मुद्रायें -

1. महामुद्रा - बायें पैर की एड़ी सीवन (गुदा) तथा अण्डकोष के मध्य में के चार अंगुल स्थान में लगाकर दाहिना पैर लम्बा कर दे और दोनों हाथ एक के ऊपर दूसरा, घुटने के पास रख के दोनों नासिकाओं से पांच घर्षण करें। फिर बायीं नासिका से पूरक भरे। कुम्भक के समय लंबाये हुएँ पैर के अंगुठे को दोनों हाथों से पकड़े रहे और सिर को घुटने पर लगा दे। (या लगाने का प्रयत्न करे) तथा मन में यह भावना करे कि "मेरी कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है और मै इसे ब्रह्म रन्ध्र में ले जाता हूँ। यथाशक्ति कुम्भक करके सूर्यनाड़ी (दाहिनी नासिका) से शनैश्शनैः रेचक करे। इस प्रकार वामाङ्ग में जितनी मुद्रायें करने का विचार हो उतनी कर ले। फिर दक्षिणाङ्ग में भी इसी क्रम से उतनी ही मुद्रायें करें जितनी की वामाङ्ग में की थी। यह ध्यान में रहे कि दक्षिणाङ्ग में पूरक दाहिनी नासिका से और रेचक बायीं से किया जाये तथा दाहिने पैर की एड़ी सीवन में लगायी जाये। यह मुद्रा कपिल मुनि ने साधी थी। इसके अभ्यास से अविद्या, अस्मिता (सूक्ष्म अहकांर) राग, द्वेष, अभिनिवेश (मरण भय) ये पञ्च क्लेश, क्षयरोग, गुल्मरोग, भगन्दर, प्रमेह और कोढ़ का नाश होता है और अष्ट प्रकार की सिद्धियाँ (अणिमा = (छोटा हो जाना), गरिमा = (पर्वताकर हो जाना), लघिमा = (हलका होना), महिमा = (भारी होना), प्राकाम्य = (इच्छा मात्र से जो चाहे करना), ईशिता = (प्रभुत्व), वशिता = (समस्त प्रकृति के पदार्थों को वश में करना)) प्राप्त होती है। साधक को यह ध्यान रहे कि ये माया की सिद्धियाँ है और स्वरूप की सिद्धियों से तुच्छ है। इसलिए इनके मोह में न पड़े, अभ्यास को जारी रखे।

2. महाबन्ध - बांया पैर सीवन में और दाहिना पैर बायें पैर की जन्घा के मूल

के मूल में ऊपर की ओर (लपका) रखे । फिर पांच घर्षण करके बायीं नासिका से पूरक भरे । कुम्भक के समय दोनों (तने हुए) हाथों से दाहिने पैर के घुटने को पकड़े रहे तथा मन को सुषुम्ना नाड़ी में स्थिर करके यह भावना करे कि मै कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करके ब्रह्मरंध्र में ले जाता हूं । यथा शक्ति कुम्भक करके दाहिनी नासिका से शनैः शनैः रेचक करे । इस प्रकार वामांङ्ग में जितनी मुद्राएँ करनी है करें । फिर इससे विपरित दक्षिणांङ्ग में उतनी ही मुद्राये करे जितनी कि वामाङ्ग में की थी । इससे अभ्यास से वही फल प्राप्त होता है जो कि महामुद्रा से ।

3. महाबन्ध -

इसके दो प्रकार है ।

पहला प्रकार- सिद्धासन से बैठ कर मूल बन्ध को बराबर दृढ़ता से लगाके दोनों हाथ चूतड़ो के पास रखके पांच घर्षण करे, फिर दोनों नासिकाओं से पूरक करे । कुम्भक के समय "मैं कुण्डलिनी को जाग्रत करता हूं" ऐसी भावना करे और स्थिरासन सहित ऊपर उठकर कन्द स्थान को रगड़े । यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नासिकाओं से शनैः शनैः रेचक करे ।

दूसरा भाग - पद्मासन से बैठकर बायीं नासिका से पांच घर्षण करे । फिर इसी नासिका से पूरक करे । कुम्भक के समय लोलासन से स्थित हो और यह भावना करे कि "मै कुण्डालिनी को जाग्रत करता हूं" यथा शक्ति कुम्भक करके दाहिनी नासिका से शनैः शनैः रेचक करे । इस प्रकार वामांङ्ग में जितनी मुद्रायें करनी हों करके दक्षिणांङ्ग में इससे विपरित क्रम से उतनी ही मुद्रायें करे जितनी चन्द्रांङ्ग में की हो ।

महाबन्ध का अभ्यास उपर्युक्त दोनों मुद्राओं के साथ-साथ ही करना चाहिऐं । इसके अभ्यास से असाध्य रोगों की निवृत्ति होती है और कुण्डलिनी जाग्रत होकर ब्रह्मरंध्र में जाती है तथा आयुष बढता है ।

4. विपरित करणी - पैरों दोनों को लम्बे फैलाकर हाथों को घुटनों पर रखके पांच घर्षण करे । कुम्भक के समय उत्म भावना करे फिर पूर्वस्थिति में आकर दोनों नासिकाओं से शनैः-2 रेचक करे । इसके अभ्यास से प्रत्याहार (इन्द्रियों की वश्यता) सिद्ध होता है । जठराग्नि बढ़ती है और अनेक रोगों का नाश होता है ।

~~बन्ध और मुद्रा शारीरिक दृष्टि से अन्तः स्त्रावी ग्रान्थियों को उत्तेजित करके उनसे उचित मात्रा में अन्तः स्त्रव उत्पन्न करके शरीर की अनेक क्रियाओं को व्यवस्थित करती है । "हठयोग प्रदीपिका" में दश मुद्रा और बन्द बताऐ गये है । परन्तु हम शारीरिक लाभ को ध्यान में रख कर और प्राणायाम में सहायक कुछ "बन्ध" तथा मुद्राओं की जानकारी यहां प्रस्तुत कर रहे है ।~~

~~प्राणायाम के प्रकार~~ :- प्राणायाम के प्रकार

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि पतंजलि ने कहीं भी अपने "योग दर्शन" के सूत्रों में प्राणायाम से सम्बन्धित पूरक, रेचक और कुम्भक शब्दों का नामोल्लेख नहीं किया है। पतंजलि के योग सूत्रों पर भाष्य लिखने वाले व्यास नामक विद्वान् ने भी इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। फिर ये शब्द किस योग पद्धति की देन है ? इस विषय पर विचार करते समय हमारा ध्यान "हठयोग" के ग्रन्थों की ओर जाता है। "हठयोग" में रेचक, पूरक और कुम्भक तीनों ही शब्दों का प्रयोग प्राणायाम के प्रकारों के सम्बन्ध में पाया जाता है। योग के क्षेत्र में यही तीनों शब्द आजकल प्राणायाम के सन्दर्भ में प्रयुक्त होते हैं।

प्राणायाम के सम्बन्ध में पतंजलि के "योगदर्शन" नामक ग्रन्थ के प्रथमपाद (समाधि) पाद में मन के निग्रह के लिए एक सूत्र इस प्रकार आया है :-

"प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य।"

इस सूत्र का अर्थ करते हुए आचार्य उदयवीर जी लिखते है कि "सूत्रगत प्राण पद का तात्पर्य यहाँ उस वायु से है, जो श्वास-प्रश्वास के रूप में बाहर से अन्दर शरीर में और शरीर के अन्दर से बाहर की ओर नासिका भागों द्वारा फेंका जाता है। यह प्रच्छर्दन कहाता है। वायु को बाहर या भीतर फेंक कर वहीं उसे रोक देना "विधारण" है। वायु को भीतर से बाहर फेंकना "रेचक" तथा बाहर से भीतर फेंकना "पूरक" कहा जाता है। इन दोनों क्रियाओं के अनन्तर जो प्राण को वहीं रोक देना है, उसका नाम "कुम्भक" है/जब बाहर रोका जाये तो "बाह्य कुम्भक" और भीतर रोका जाय तो "आभ्यन्तर" कुम्भक कहलाता है। इस प्रकार एक प्राणायाम तीन अंशों में पूरा होता है - रेचक, पूरक, कुम्भक। सूत्र में केवल दो पदों का प्रयोग है - प्रच्छर्दन और विधारण। रेचक और पूरक दोनों "प्रच्छर्दन" के अन्तर्गत हैं। कुम्भक (दोनों बार का - रेचक के अनन्तर का और पूरक के अनन्तर का) विधारण में इस प्रकार सूत्र के दो पदों से प्राणायाम का पूरा विवरण प्रस्तुत होता है।"

उपर्युक्त भाष्य को पढ़कर एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि योगदर्शन के "साधनपाद" नामक द्वितीय अध्याय में दिए गए "अष्टांगों" में से प्राणायाम के सम्बन्ध में पतंजलि ने प्रथम अध्याय "समाधिपाद" में एक सूत्र उपस्थित करके प्राणायाम के तीनों भेदों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

प्राणायाम के प्रकारों के विषय में पतंजलि अन्य ग्रन्थकारों से कुछ हट कर ही अपना मत रखते हैं। उन्होने "साधनपाद" नामक दूसरे अध्याय में दो सूत्र प्राणायाम के सम्बन्ध में लिखे हैं। पहले सूत्र में बाह्य वृत्ति आभ्यन्तर वृत्ति लिखने के बाद अगले ही सूत्र में औरस्तम्भ वृत्ति नाम से प्राणायाम के तीन भेद

चौथे प्रकार का प्राणायाम भी बताया है । इस प्रकार पतंजलि के विचार में प्राणायाम के चार भेद हैं ।

वस्तुत: देखा जाए, तो रेचक, पूरक और कुम्भक इन तीनों के मिले हुए समुदाय को ही प्राणायाम माना जाता है । अत: इन तीनों का एक साथ ही क्रमश: अभ्यास करना चाहिए । जब साधक में प्राणायाम के सम्बन्ध में पूर्णता आ जाए, तब इन तीनों में "केवल कुम्भक" का साधन भी शास्त्रों में वर्णित है, इसे चतुर्थ प्राणायाम भी कहते हैं । यह अनायास साध्य होने वाला राजयोग का प्राणायाम है । इसमें प्रयत्न के द्वारा प्राण की गति का अवरोध अपेक्षित नहीं है । इसीलिए पतंजलि ने तीनों प्राणायामों के साथ इसको न मिलाकर पृथक् से इसके लिए सूत्र दिया है ।

श्वास-प्रश्वास की गति की प्रक्रिया को प्राणायाम मानते हुए यहाँ पतंजलि के मतानुसार प्राणायाम के प्रकारों पर प्रकाश डाला जा रहा है ।

रेचक :- पतंजलि के अनुसार इस प्राणायाम का नाम "बाह्यवृत्ति" प्राणायाम है । अर्थात् जब प्राण की वृत्ति (व्यापार) बाहर की ओर हो, तब वह "बाह्यवृत्ति" प्राणायाम कहा जाता है । "रेचक" शब्द का अर्थ भी "निकलना" है । दोनों शब्द प्राण के बाहर निकलने के ही वाचक हैं । इनमें कोई अन्तर नहीं है । इसका अभिप्राय यह है कि प्राणवायु को बाहर निकालकर इसकी स्वाभाविक गति में अन्तर डालना रेचक प्राणायाम है ।

"बृहद्योगियाज्ञवल्क्य" स्मृति में रेचक का लक्षण भी इसी प्रकार मिलता है :-

"निष्क्राम्य नासाविवरादशेषं प्राणं बहि: शून्यमिवानिलेन।
निरुद्ध्य सन्तिष्ठति रुद्धवायु: स रेचको नाम महानिरोध: ।।

अर्थात् नासिका से सम्पूर्ण वायु को निकाल कर वायु रहित होकर वायु को बाहर रखना ही रेचक है

2. पूरक :-
==========

पतंजलि के योगदर्शन में इस प्राणायाम का नाम आभ्यन्तर वृत्ति" बताया है । क्योंकि इसमें प्राण का व्यापार अन्दर की ओर होता है। xxxxxxx "बृहद्योगियाज्ञवल्क्य" स्मृति के अनुसार "पूरक" प्राणायाम का लक्षण इस प्रकार है:-

"बाह्ये स्थित घ्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनै समन्तात्।
नाडीश्च सर्वा परिपूरयेद् य: स पूरको नाम महानिरोध: ।।

अर्थात् बाह्य स्थित वायु को चारों तरफ से नासिका से खींच कर सब नाड़ियों को उससे भर देना "पूरक" प्राणायाम है ।

3. कुम्भक :-
============

शरीर के भीतर जाने और बाहर निकलने वाली प्राणों की

स्वाभाविक गति है, उसे प्रयत्नपूर्वक बाहर या भीतर निकालने या ले जाने का अभ्यास न करके, उसे वहीं का वहीं रोकना "कुम्भक" प्राणायाम है । इसको "कुम्भक" इसलिए कहा जाता है कि जैसे "कुम्भ (घड़ा) में डाला गया पानी हिलने डुलने पर भी कुम्भ में ही रहता है (अन्यत्र नहीं जाता, ठीक इसी प्रकार श्वास भी बाहर और भीतर न जाकर वहीं का वहीं रहता है । पतंजलि के योगदर्शन में इसका नाम "स्तम्भवृत्ति" लिखा हुआ मिलता है । इसकी इसी प्रकार की परिभाषा "बृहद्योगियाज्ञवल्क्य" स्मृति में भी मिलती है :-

" न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम् ।
सुनिश्चलं धारयते क्रमेण कुम्भाख्यमेतद् प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।।"

अर्थात् जहाँ न तो रेचक है और नैव पूरक है और वायु नासापुट में ही स्थित है और उसे निश्चलता के साथ धारण करने को "कुम्भक" प्राणायाम है" कहते हैं।

इस प्रकार श्वास और प्रश्वास दोनों प्रकार की गतियों के अभाव में प्राण को जहाँ का तहाँ रोक देना कुम्भक"प्राणायाम है । जिस प्रकार गरम लोहे पर डाला हुआ जल एक साथ सिकुड़ कर सूख जाता है, इसी प्रकार " कुम्भक" प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास दोनों की गति का एक साथ अभाव हो जाता है ।

कुम्भक प्राणायाम का महत्त्व इतना बड़ा है कि उपनिषदों की परम्परा में प्राणायाम के पर्यायवाची शब्द के रूप में इसका प्रयोग मिलता है ।

प्राणायाम में बल- प्रयोग बहुत ही हानिकारक होता है। प्राणायाम में चाहे कितने चक्र करने पड़ें, उनके बीच में एकदम साँस लेने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए । प्राण बड़ा बलवान् होता है । अतः इसको उसी प्रकार धीरे-धीरे वश में करना चाहिए जिस प्रकार शेर या हाथी पकड़ कर धीरे धीरे अपना वशवर्ती बनाया जाता है । इसके विपरीत शीघ्रता या बलपूर्वक प्रयोग से साधक के प्राण ले सकता है । युक्तिपूर्वक और प्राणायाम ज्ञानी गुरू से निरीक्षण किया गया प्राणायाम सभी रोगों को शान्त करने वाला शरीर की स्फूर्ति बढ़ाने वाला है । बिना विधि से किया गया प्राणायाम प्राणों को कुपित करके शरीर को निर्बल और रोगी बना देता है ।

प्राणायाम आरम्भ करने पूर्व नाड़ी शुद्धि प्राणायाम और कपालभाति का विवरण षट्कर्म के प्रकरण किया जा चुका है । यहाँ "नाड़ीशुद्धि" प्राणायाम की विधि लिखी है ।

नाड़ीशुद्धि प्राणायाम की चार विधि इस प्रकार से है :-

नाड़ीशुद्धि प्राणायाम की तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों
प्रथम विधि:- 1. दाहिने हाथ की तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों को मोड़कर अंगूठे के मूल में लगाईए । शेष दोनों अंगुलियाँ और अँगूठा सीधे रखें । इसे ज्ञानमुद्रा कहते हैं ।

2. अंगूठे से दाहिने सूर्यस्वर को बन्द करके बाँए चन्द्रस्वर से 8 गिनते

हुए श्वास लीजिए।

3. उसी स्वर से 16 गिनते हुए छोड़िए। ऐसे तीन चक्र पूरे कीजिए।

4. इसी प्रकार दाहिने स्वर से पूरक और रेचक 8-16 गिनते हुए तीन चक्र कीजिए। ये सभी क्रियाएँ शान्त श्वास और आँखों को बन्द करके करनी उचित है।

दूसरी विधी:- 1. बाँए स्वर से पूरकऔर दाहिने स्वर से रेचक कीजिए ऐसे तीन चक्र इसी प्रकार करें।

2. अब दाहिने से पूरक और बाँए से रेचक करके तीन चक्र पूरे कीजिए।

तृतीय विधी:- 1. चन्द्रस्वर से 8 गिनते हुए पूरक करके सूर्यस्वर से 16 गिनते हुए रेचक करे।

2. सूर्यस्वर से इसी प्रकार संख्या गिनते हुए पूरक और चन्द्रस्वर से रेचक कीजिए। यह एक चक्र पूरा हुआ। ऐसे 3 से 21 चक्र पूरे कीजिए।

नोट:- कपालभाति भी इन तीन विधियों से की जा सकती है। परन्तु उसमें पूरक-रेचक का अनुपात नहीं रहेगा।

चतुर्थ विधी :- (अनुलोम-विलोम प्राणायाम)

1. चन्द्रस्वर से पूरक 8 गिनते हुए कीजिए।

2. पूरक के पश्चात् जालन्धार बन्धा लगाइए। दोनों स्वरों को अंगुठे और कन्छिठा तथा अनामिका से बन्द कर लीजिए। नासिका द्वारों को प्रारम्भ में ही बन्द करना चाहिए। पश्चात् इसकी विशेष आवश्यकता नहीं है। 32 संख्या गिनने तक कुम्भक (श्वास को भीतर रोकना) चाहिए।

3. सूर्यस्वार से 16 गिनते हुए श्वास छोड़िए। यही आधा चक्र पुरा हुआ।

4. इसी प्रकार सूर्य स्वर से अभ्यास करे। यह एक चक्र पूरा, हुआ।

उपर्युक्त तीनों प्राणायामों द्वारा शरीर को स्वस्थ रखते हुए अष्टॉग योग के अन्तिम अंग"समाधि" तक पहुँचने के लिए ज्यों-ज्यों साधक अधिक से अधिक अभ्यास करता है, त्यों-त्यों ये प्राणायाम "दीर्घ" और सूक्ष्म हो जाते है, जैसे धुनाई हो जाने पर रुई फैल कर दीर्घ तथा सूक्ष्म हो जाती है, इसी प्रकार प्रतिदिन अभ्यास करने से प्राणायाम भी दीर्घ और सूक्ष्म बन जाता है। अत्यन्त निपुणता की अवस्था में पहुँच कर जब प्राणायाम द्वारा वायु को नियन्त्रित कर लिया जाता है तब इसे "सूक्ष्म" कहते है। यहाँ सूक्ष्म का अर्थ छोटा या निर्बल नहीं है। कुशल साधक लगातार अभ्यास द्वारा रेचक, पूरक और कुम्भक को दीर्घ, दीर्घतर और दीर्घतम और सूक्ष्म (दैनिक जीवन के समान अनुभव न होने वाला बहुत हल्का) बना सकता है

प्राणायाम की जाँच :-

कोई भी प्राणायाम "दीर्घ और सूक्ष्म " हुआ है अथवा नहीं, इसकी परीक्षा भी पतंजलि ने देश, काल और संख्या आदि के द्वारा सुनिश्चित कर दी है।

रेचक की देश द्वारा जाँच

जैसे जैसे साधक अभ्यास द्वारा रेचक को बढ़ाता है, वैसे वैसे धुनी

रुई के समान देश॥ स्थान॥ द्वारा मापा जाकर दीर्घ और सूक्ष्म ॥हल्का॥ होता चला जाता है। प्राणायाम पहिले प्रायः रेचक से आरम्भ किया जाता है। इसमें प्राणवायु को अन्दर से बाहर निकालते समय आरम्भ में जितनी दूरी होती है, धीरे-धीरे अभ्यास से वह दूरी अधिक हो जाती है। इसी को रेचक प्राणायाम का "दीर्घ" ॥लम्बा॥ होना कहते हैं। इसकी परीक्षा के लिए साधक को निर्वात स्थान में बैठकर प्राणायाम का अभ्यास करते समय अपनी नाक के सामने प्रदेश मात्र (कलाई के आरम्भ भाग से लेकर सबसे छोटी अंगुली तक की लम्बाई) की दूरी पर धुनी बहुत थोड़ी रूई रखनी चाहिए। रेचक प्राणायाम के अभ्यास करते समय देखो कि रूई बाहर निकलने वाले सांस से हिलती है अथवा नहीं। यदि हिलती है, तो अभ्यास के द्वारा प्रतिदिन रूई की दूरी किंचित् दूरी तक बढ़ा ले। ऐसा करने से जब रूई अधिक दूर पर हिलने लगे, तो यह "रेचक" प्राणायाम का सूक्ष्म॥ हल्का॥ होना कहलाता है।

इसी प्राणायाम की दीर्घ और सूक्ष्म होने की परीक्षा काल द्वारा भी की जाती है। योग के ग्रन्थों में आँख की एक पलक झपकने में जितना समय लगता है, उसके चौथाई भाग को ॥क्षण॥ कहा जाता है। हाथ को घुटने के चारों तरफ घुमाकर एक चुटकी बजा देने में जितना समय लगता है, उतने काल को "मात्रा" कहते हैं। रेचक प्राणायाम जब छत्तीस मात्रा से आरम्भ होकर जब बहत्तर और उससे आगे एक सौ आठ मात्राओं तक पहुँच जाए, तो समझना चाहिए कि यह दीर्घ और सूक्ष्म हो गया है।

संख्या द्वारा "रेचक" प्राणायाम की दीर्घता और सूक्ष्मता की परीक्षा इस प्रकार होती है :-

ऊर्ध्व गमन करते हुए प्राण का मूर्धा में जाकर टकरा कर बारह मात्रा तक स्थिर रहना एक "उद्घात" कहलाता है। इसी प्रकार चौबीस मात्रा तक प्राण का स्थिर रहना दूसरा "उद्घात और छत्तीस मात्रा वाला तीसरा उद्घात होता है। इस प्रकार इतने श्वास-प्रश्वासों से इसका प्रथम उद्घात हुआ, इतने श्वास-प्रश्वासों से दूसरा उद्घात हुआ और इतने श्वास-प्रश्वासों से तीसरा उद्घात हुआ। इस प्रकार संख्या द्वारा प्राणायाम की दीर्घता और सूक्ष्मता जानी जाती है। सूक्ष्मता॥हल्का॥ उसी स्थिति में होती है जबकि नासिका आगे रखी रूई भी सांस से न हिले। ऐसी स्थिति अभ्यास से होती है।

पूरक की जाँच :-
=============

यह प्राणायाम भी रेचक के समान ही देश, काल और संख्या की दृष्टि से परखकर देखा जाता है। कि वह दीर्घ और सूक्ष्म भी हुआ है अथवा नहीं?। "पूरक" प्राणायाम की "देश" द्वारा परीक्षा के समय साधक पादतल से होकर मस्तिष्क पर्यन्त भीतर घूमती हुई वायु के स्पर्श का चींटी के चलने जैसा अनुभव करता है।

जब नाभिचक्र तक जाकर वायु स्थित हो जाए, तब समझना चाहिए कि अब "पूरक" प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म हुआ है। काल के सम्बन्ध में परीक्षा करो समय जब यह पता चल जाए "पूरक" प्राणायाम द्वारा ली गई वायु शरीर में छत्तीस मात्राओं तक स्थिर हो रही है, तो इस प्राणायामका दीर्घ और सूक्ष्म होना समझना चाहिए। संख्या की दृष्टि से श्वास-प्रश्वासों से होने वाले उद्घातों के द्वारा पूरक के दीर्घ और सूक्ष्म होने की परीक्षा की जाती है।

रेचक और पूरक के जो बाहरीऔर भीतरी देश हैं, वहीं प्राण के रूकने से वे दोनों ही देश "कुम्भक" के विषय हैं। अतः इसकी दीर्घता और सूक्ष्मता की जॉच रूई या चींटी जैसे स्पर्श से कर लेनी चाहिए। शेष काल और संख्या की जॉच भी रेचक और पूरक के समान ही है।

कुम्भक :-
=========

"कुम्भक" के विषय में यह बताना भीआवश्यक है कि यह दो प्रकार का होता है। जब प्राणवायु की गति अन्दर या बाहर नहीं होती और प्राण को एक स्थान ही रोके रखना "कुम्भक" है। ~~xxxxxxx~~ परन्तु प्राणवायु के रेचन ॥बाहर निकालने॥ के बाद प्राण को यथाशक्ति वहीं रोकना भी कुम्भक" है जब प्राण इस कुम्भक में व्याकुल होने लगे, तब जोर के साथ वायु का पूरण॥ अन्दर भरना॥ किया जाता है। पूरा वायु खींच लिए जाने के बाद फिर वहाँ "कुम्भक" किया जाता है। इस कुम्भक के रहने तक एक प्राणायाम पूरा होता है। इसमें "रेचक" के बाद "कुम्भक" और "पूरक" के बाद "कुम्भक" ये दोनों यथाक्रम बाह्य और आभ्यन्तर वायु की अपेक्षा रखते हैं। वायु ॥रेचक और पूरक॥ के सापेक्ष होने से इन्हें "सह कुम्भक" अथवा "सहित कुम्भक" कहा जाता है। ये दोनों एक ही प्रकार के हैं। "रेचक"-"पूरक" दोनों के अन्त में होने से एक ही प्राणायाम में इनका दो बार प्रयोग होता है। यह प्रथम प्रकार का कुम्भक हुआ है। दूसरे प्रकार के ॥शुद्ध कुम्भक॥ को पतंजलि ने योग दर्शन में चौथे प्रकार का प्राणायाम कहा है।

पतंजलि ने योगदर्शन में इस चौथे प्राणायामा का लक्षण देते हुए लिखा है कि :-

"बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थ : ।"

अर्थात् बाह्य ॥रेचक॥ तथा आभ्यन्तर ॥पूरक॥ विषय का आक्षेपी (॥उल्लंघन करने वाला) अर्थात् इन दोनों की अपेक्षा न करने वाला चतुर्थ ॥ चौथा ॥ अर्थात् "केवल कुम्भक" प्राणायाम होता है। इसी का अन्य नाम शुद्ध कुम्भक भी है।

"सहित कुम्भक" देश काल और संख्यापूर्वक होने से कम समय तक रहने वाला है। किन्तु निरन्तर अभ्यास से उच्चस्तर पर पहुँचने पर प्राण अवरोध की शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि साधक प्राण को बिना रेचक और पूरक के चिरकाल पर्यन्त स्थायी बना लेता है। पहले-पहले तीन प्राणायामों प्रयत्न के द्वारा प्राणों की गति में अवरोध उत्पन्न किया जाता है, जबकि चौथे प्राणायाम में मन की चंचलता शान्त हो जाने पर स्वतः ही प्राणों की गति रुक जाती है। यही इस प्राणायाम की विशेषता है।

"घेरण्ड संहिता" के अनुसार साँस को भीतर भरकर इच्छानुसार रोके रखना "केवल कुम्भक" कहलाता है। शरीर विज्ञान के अनुसार जब बाह्य वातावरण और शरीर में वायु का दबाव समान हो जाए, साँस ना भीतर जाए और ना ही भीतर से बाहर आए, ऐसी स्थिति को "केवल कुम्भक" कहा जा सकता है।

"कुम्भक" को इतना ही करना चाहिए जितने में "रेचक" धीरे-धीरे किया जा सके। "पूरक" इस प्रकार करना चाहिए जैसे नली द्वारा जल खींचा जाता है। "पूरक" शीघ्रतापूर्वक करने से दो प्रकार की हानी होती है - एक तो इससे फेफड़ों को आघात पहुँचता है और दूसरा "कुम्भक" अधिक देर तक टिकता नहीं है। "रेचक को भी शीघ्रता से करने से फेफड़ों और नाड़ियों में क्षोभ (हलचल) उत्पन्न होकर फफड़े, हृदय, नासिका, नेत्र, कान, मस्तिष्क आदि के अंगों को हानि पहुँचती है। अतः "रेचक" को आन्तरिक बल से धीरे-धीरे करना चाहिए। और इसके बाद एक-दो सेकिन्ड "कुम्भक" करके तब पुनः "पूरक" करना चाहिए।

हठयोगियों की मान्यताओं के अनुसार प्राणायाम से शरीर की शुद्धि होती है। यह बात, पित्त और कफ के दोषों को मिटाता है ऐसा होने से शरीर में मौजूद अनेक बिमारियाँ मिट जाती है। खेल जगत में रुचि करने वालों ने अपनी शोधों से यह सिद्ध कर दिखाया है कि प्राणायाम से उन कर्मेन्द्रियों की क्षमता अत्यधिक बढ़ जाती है, जो गति, (Race) प्लुति (Jump) शक्ति (Throws) में सहायक होती है।

इस प्रकार प्राणायाम मन और शरीर दोनों को स्वस्थ रखने में सहायक है। प्राणायाम का महत्व इस बात से भी प्रकट होता है कि वृहद्योगि-याज्ञवल्क्य" स्मृति में प्राणायाम को "प्रणव" रूप देते हुए कहा है।

" वर्णत्रयात्मका ह्येते रेचक पूरक कुम्भकाः।
स एव प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामश्च तन्मयः।।"

अर्थात् रेचक, पूरक और कुम्भक इन तीनों में तीन वर्ण होते हैं। इसी प्रकार 'ओम्' में भी अ, उ और म् ये तीन वर्ण है। इसलिए प्राणायाम "प्रणव" रूप ही है।

प्राणायाम के भेद :-

पहिले पृष्ठों में हम यह लिख चुके है कि "कुम्भक" प्राणायाम दो प्रकार का होता है -एक "सहित कुम्भक" और दूसरा "केवल कुम्भक" । इसमें से "केवल कुम्भक" केवल एक ही प्रकार का है । परन्तु "सहित कुम्भक" प्राणायाम आठ प्रकार का है । इन आठ प्रकारों के नामके विषय में हठयोग के ग्रन्थों में समानता नहीं है । "घेरण्ड संहिता" और "गोरक्ष संहिता " में ये नाम इस प्रकार दिए गए है :-

1•सहित ,2• सूर्यभेदी,3• उज्जायी,4• शीतली,5• भस्त्रिका,6• भ्रामरी 7• मूर्छा 8• केवली ।

परन्तु "हठयोग प्रदिपिका" में आठ प्रकारों के नाम इस प्रकार है :-

1• सूर्यभेदन,2• उज्जायी,3• सीत्कारी,4• शीतली,5• भस्त्रिका , 6• भ्रामरी,7• मूर्च्छा ,8• प्लाविनी ।

उपर्युक्त नामों में से "सहित" और केवली" का नाम "हठयोग प्रदीपिका" में नहीं है और "सीत्कारी और प्लाविनी" के नाम "घेरण्ड संहिता" और "गोरक्ष संहिता" में नहीं है । अत: यहाँ हठ योग प्रदीपिका के अनुसार प्राणायाम के भेदों पर विचार प्रस्तुत करेंगे, जो हठयोगियों एवं जन साधारण में प्रचलित हैं।

1• सूर्यभेदन/सूर्यभेदी :-

स्वस्तिकासन अथवा पद्मासन अथवा सिद्धासन अथवा वीरासन में से किसी एक में बैठकर दक्षिणनाड़ी (पिंगला नाड़ी अन्य नाम सूर्य नाड़ी) से शनै: शनै: वायु को खींच कर नख शिखा पर्यन्त (पाँव के अंगूठे से लेकर चोटी तक) अर्थात् सम्पूर्ण शरीर में वायु रुक जाने तक "कुम्भक" प्राणायाम करना चाहिए। कुछ योगाचार्य यह कहते हैं कि इसको आरम्भ करने की विधि यह है कि दायें स्वर से आठ तक गिनते हुये साँस को भीतर ले जाना चाहिए । फिर जालंधर बन्ध लगाकर बत्तीस गिनने तक "कुम्भक" करना चाहिए ।

इसके बाद वाम नाड़ी (इड़ा नाड़ी अन्य नाम चन्द्र नाड़ी) से वायु शनै: शनै: रेचन करना चाहिए । कुछ साधकों की मान्यता है कि रेचक सोलह की गिनती करने तक करना चाहिए । यह एक प्राणायाम हुआ और ऐसे तीन या पाँच प्राणायाम तो अवश्य ही करने चाहिए । बहुत से योगी यह भी कहते हैं कि इस प्राणायाम में बलपूर्वक सूर्यनाड़ी से शनै: शनै: आवाज के साथ पूरक करना चाहिए । और वायु का रेचन करते हुए भी आवाज होनी चाहिए। इस प्राणायाम का पुन: पुन: केवल सूर्यनाड़ी (दायी नाड़ी) से ही "पूरक" और चन्द्र नाड़ी (बायीं नाड़ी) से ही "रेचक" करना चाहिए । इसी को "सूर्य भेदन/सूर्यभेदी" प्राणायाम कहते है ।

इस प्राणायाम से शरीर में गरमी और पित्त की बढ़ोतरी होती है , क्योंकि दायें फेफड़े का सम्बन्ध जिगर से है । इससे वात और पित्त का प्रकोप शान्त होता है । "हठयोग प्रदीपिका" के अनुसार यह प्राणायाम सिर, गर्दन, मस्तिष्क के सभी विकारों को दूर कर [illegible] बनाता है । हृदय के लिये लाभकारी है । इसे

लगातार करने से पेट में होने वाले कीड़ों से सम्बन्धित बिमारियाँ दूर होती हैं ।

2• उज्जायी:-

किसी प्रकार गले को आंशिक रूप में सिकोड़ कर इड़ा और पिंगला अर्थात् दोनों नासिकाओं से कंठ/से हृदय तक शब्द के साथ पूरक करें । उसके बाद सूर्यभेदन के अनुसार पाँच (छ सैकिण्ड) कुम्भक करके बाईं नासिका से रेचक करें । यह एक प्राणायाम हुआ । इस प्राणायाम में पूरक रेचक थोड़े ही परिमाण में किए जाते हैं । इसमें जालन्धरादि बन्धों को लगाना आवश्यक नहीं । इसमें वायु हृदय के नीचे नहीं जानी चाहिए । रेचक जितना सम्भव हो सके उतना धीरे-धीरे सांस को छोड़ना चाहिए । इसमें "पूरक " में नासिका द्वारा वायु को बाहर से खींच कर मुख में, मुख से कंठ में और कंठ से हृदय में धारण किया जाता है। फिर विपरीत क्रम से रेचन की क्रिया होती है । अर्थात् हृदय से कंठ से ,और कंठ से मुख द्वारा रेचक की क्रिया होती है । यह प्राणायाम पाँच से आरम्भ करके धीरे-2 बढ़ाना चाहिए । इस प्राणायाम में पूरक ,कुम्भक और रेचक का अनुपात 1,4,2, का होना चाहिए ।

यह प्राणायाम गले में स्थित कफ दोषों को दूर करने वाला,जठराग्नि को बढ़ाने वाला, नाड़ी में होने वाले विकारों को दूर करने वाला और जलोदर नामक रोग का नाशक है । इससे आमवात,तिल्ली,मन्दाग्नि नामक रोगियों को भी लाभ पहुँचता है । बहुत से साधकों को मानना है कि यह प्राणायाम बैठे हुए,चलते हुए,खड़े हुए या विश्राम की अवस्था में लेटे हुए भी किया जा सकता है । जब शारीरिक विकार के कारण दूसरे प्राणायाम न हो सकें या समय अनुकूल न हो तो उज्जायी करना चाहिए ।

3• सीत्कारी :-

हठयोग प्रदीपिका नामक पुस्तक के अनुसार इस प्राणायाम का लक्षण ,विधि और लाभ इस प्रकार है :-

मुख में जिव्हा के द्वारा ~~इसी प्रकार~~ सीत्कार करते हुए पूरक करना चाहिए । तत्पश्चात् केवल घ्राण (नासा मार्ग) के द्वारा ही रेचन करना चाहिए । इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करते रहने से योगी द्वितीय कामदेव के समान स्वस्थ और सुन्दर हो जाता है । अर्थात्- उसमें रूप लावण्य की अतिशय वृद्धि हो जाने पर वह कामदेव की भाँति लगने लगता है । उसे न तो क्षुधा पीड़ित करती है और न प्यास सताती है । साधक निद्रा के वशीभूत नहीं होता और न ही उसे आलस्य सताता है।

यह प्राणायाम शीतल है । इसीलिए ग्रीष्म ऋतु में इसका अभ्यास श्रेयस्कर है । इसके अभ्यास से हरेक प्रकार के ताप [ज्वर], रक्तपित्त, एकतीरा, ~~चौथिया इत्यादि~~, तिल्ली, मरोड़, गोला आदि रोगों का नाश होता है । तीन वर्षों के निरन्तर 100-100 की संख्या में अभ्यास से वृद्धावस्था दूर होकर युवावस्था की प्राप्ति होती है । [सफेद बाल काले हो जाते हैं । किसी भी प्रकार का विष नहीं व्यापता है। इसका अभ्यास ~~इसका अभ्यास~~ काकभुशुण्डि जी ने किया था ऐसा किन्हीं-किन्हीं का कथन है ।

4. शीतली :-
============

ओठों से जीभ को बाहर निकाल कर और उसे पक्षी की चोंच के समान अर्थात् नाली के समान बना कर धीरे-धीरे वायु का आकर्षण [पूरक] करके सूर्य भेदन प्राणायाम की भांति कुम्भक करना चाहिए अर्थात् वायु को अधिक से अधिक समय तक अंदर ही रोक कर धीरे-धीरे रेचन करना चाहिए । यह "शीतली" प्राणायाम कहलाता है ।

इससे गोला, प्लीहा [तिल्ली] पेट की बिमारी, दस्त, पित्तवृद्धि, जलन खट्टी डकार, भूख, प्यास, पागलपन आदि रोग शमन होते हैं । सांय आठ घण्टे तक इस प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए । शीतकाल में और कफप्रकृति के मनुष्य के लिए यह प्राणायाम हितकर नहीं है । सीत्कारी और शीतली दोनों ही प्राणायाम शरीर को शीतलता पहुँचाते हैं । इससे चर्मरोग एवं पित्त के विकार शान्त होते हैं । स्वरतन्त्र स्वस्थ होकर वाणी सुरीली बनती है । ग्रीष्म ऋतु में प्यास लगने पर जल के अभाव में शीतली से तृषा को शांत किया जा सकता है । जिन्हें सूर्यभेदन या अन्य प्राणायाम के पश्चात् उष्णता या खुश्की प्रतीत हो शीतली का अभ्यास करें। कफप्रकृति और शीतऋतु में इसका अभ्यास वर्जित है । क्रिकेट के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

5. भस्त्रिका :-
============

हठयोग के अनुसार भस्त्रिका प्राणायाम का लक्षण और विधि इस प्रकार है :-

साधक भली भांति पद्मासन लगाकर मुख को संयमित करके यत्नपूर्वक नासिका के एक छिद्र से ~~वायु का रेचन [निकालना] करे~~ । नासिका से वायु का रेचन इस प्रकार करे कि कण्ठ सहित कपाल पर तक लगे । इसके बाद वेगपूर्वक हृदय उसका पूरक करे । अर्थात् प्राण वायु ग्रहण करे । पहले की भांति फिर उसका रेचन करे और फिर उसका पूरक करे । इस प्रकार बार-बार वायु का रेचन और पूरक करना चाहिए । जैसे लोहार बार-बार भस्त्रा [धौंकनी] को चलाता है, उसी प्रकार अपने शरीर में वायु को संचालित करे । जब बार-बार रेचक और पूरक करने से शरीर में थकान प्रतीत होने लगे तब सूर्यनाड़ी [पिंगला] से पेट को पूर्ण करें । तत्पश्चात् मध्यमा [बीच की अंगुली] और तर्जनी [पहली अंगुली] के बिना अर्थात् अंगुठे, अनामिका [तीसरी अंगुली] और कनिष्ठिका [सब से छोटी अंगुली] इन तीनों से दृढ़तापूर्वक नासापुट को दबाकर प्राणवायु को रोके । अर्थात् कुम्भक करे । इस प्रकार विधि पूर्वक कुम्भक करके इडा [बायीं नाड़ी] चन्द्र नाड़ी से वायु का रेचन करे ।

यह प्राणायाम दो प्रकार किया जाता है :-

पहला प्रकार :-

बायीं नासिका से कम से कम 10 घर्षण (वेगपूर्वक पूरक रेचक) करके ग्यारहवीं बार उसी नासिका से पूरक भरे। यथाशक्ति कुम्भक करके सूर्यनाड़ी से (दाहिनी नासिका से) शनै: शनै: रेचक करे, पुन: दाहिनी नासिका से कम से कम 10 घर्षण करके उसी से पूरक करे। यथाशक्ति कुम्भक करके शनै: शनै: बायीं नासिका से रेचक करे। इस प्रकार बार बार करे। आरम्भ में 5 से 10 प्राणायाम करे। यह प्राणायाम समशीतोष्ण है। इसलिये बारहों मास इसका अभ्यास किया जा सकता है। इसके छ: मास के 10-10 की संख्या में अभ्यास करने से कुण्डलिनी प्रबुद्ध होती है।

दूसरा प्रकार :-

दाहिनी नासिका से बायीं नासिका की तरफ कम से कम 10 घर्षण (वेगपूर्वक पूरक और रेचक) करके दाहिनी नासिका से पूरक करे। यथा शक्ति कुम्भक करके शनै: शनै: बायीं नासिका से रेचक करे। पुन: विपरीत क्रम में यानी बायीं नासिका से दाहिनी नासिका की ओर 10 घर्षण करके बायीं नासिका से ही पूरक भरे। यथा शक्ति कुम्भक करके दाहिनी नासिका से शनै: शनै: रेचक करे। यह प्राणायाम भी प्रथम प्रकार की भांति ही फलप्रद है। विशेष रूप में कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करके और छ: चक्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञा चक्र का भेदन कर प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में ले जाता है।

लाभ:- भस्त्रा या भस्त्रिका नामक यह कुम्भक वात-पित श्लेष्मा का शमन करने वाला, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला, शीघ्र ही कुण्डलिनी प्रबोधक, सुखकारक, हितकारी, ब्रह्मनाड़ी (सुषुम्ना) के अग्रभाग में स्थित (नाड़ी का अवरोध करने वाली) अर्गला (अवरोधक) रूप कफ का नाश करने वाला और शरीर गत सुषुम्ना में समुद्भूत तीन ग्रंथियों (ब्रह्म ग्रन्थि-विष्णु ग्रन्थि-रुद्र ग्रन्थि) का भेदजनक है। अत: इस भस्त्रिका नामक कुम्भक को अवश्य करना चाहिए।

6. भ्रामरी और लोम विलोम :-

भ्रामरी प्राणायाम के बारे में कुछ कहा जाए इससे पूर्व "लोम-विलोम" प्राणायाम के विषय में लिखना उचित है। क्योंकि यह प्राणायाम "लोम-विलोम" भांति किया जाता है। बहुत से योगी प्राणायाम के आठ भेद न मान कर नौ भेद मानते हैं। उनकी दृष्टि से "लोम-विलोम" नौवां भेद है। अत: यहाँ प्रथम "लोम-विलोम" प्राणायाम के विषय में लिखा जाता है :-

लोम-विलोम :-

मूलबन्ध लगाकर सिद्धासन, पद्मासन या स्वास्तिकासन से बैठकर, सिर,

शरीर और गर्दन को समान रखते हुए सबसे प्रथम शरीरस्थ समस्त अशुद्ध वायु
को नासिका द्वारों से निकाल दे । ऐसा करने से पेट खाली हो जाने के कारण
स्वभावतः अन्दर चला आयेगा, उसे उसी दशा में रोकते हुए फिर बायीं नासिका
(चन्द्रस्वर) से (क्रम से, 4, 8, 20 मात्राओं से) पूरक भरे। (पूरक से पेट अपने आप फूल
जाएगा - अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जाएगा) और जालन्धर बन्ध (ठुड्डी को
दृढ़तापूर्वक कण्ठकूप - गले के पासवाले त्रिकोणाकार गड्ढे में) लगाकर यथाशक्ति
(क्रम से 32, 16 मात्राओं से) रेचक करे । (रेचक करने से पेट पुनः अनायास अन्दर
चला जाएगा, उसको थोड़ी देर उसी स्थिति में रोके रखना चाहिए। इस प्रकार रोकने के कारण
हवा को शरीर में प्रवेश न होने देना बाह्य कुम्भक है) और असहाय होने पर ढीला
छोड़ दे । इस क्रिया को उड्डियानबन्ध कहते हैं । (पुनः उसी क्रम से दाहिनी नासिका
(सूर्यस्वर) से पूरक भरके, यथाशक्ति कुम्भक करके, बायीं नासिका से शनैः शनैः
रेचक करे । यह एक प्राणायाम हुआ । इस प्रकार आरम्भ में 10 से 20 प्राणायाम करे ।
इसके अभ्यास से तीन मास में समस्त नाड़ियों की शुद्धि होती है । यह प्राणायाम
सम्मिलित्व होने से बारहों मास किया जा सकता है ।

भ्रामरी प्राणायाम लोम-विलोम की भाँति ही किया जाता है । केवल
भेद इतना ही है कि बायीं नासिका से पूरक भरते समय भ्रमरी का-सा मन्द स्वर में
उत्पन्न करे और दाहिनी नासिका से रेचक करते समय भ्रमर का-सा नाद करे । इसी
प्रकार विपरीत क्रम में भी करे । इसके अभ्यास से आनन्द, लाभ और चित्त की
एकाग्रता होती है ।

भ्रामरी हठयोग प्रदीपिका के अनुसार सुविधाजनक किसी आसन में बैठकर
मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए नेत्र और मुख बन्द रखते हुए इस कुम्भक का अभ्यास
करना चाहिए । सर्वप्रथम दोनों नासामार्गों से वेगपूर्वक पूरक किया जाए और पूरक के
समय भौंरे के गुंजन की भाँति घोष किया जाये । तत्पश्चात् कुम्भक के द्वारा
यथाशक्ति प्राणवायु को अवरोध किया जाय और अन्त में भ्रमरी की भनभनाहट
डङ्क के समान सुदीर्घ अखण्ड ध्वनि करते हुए धीरे-धीरे रेचक किया जाये । यहाँ
यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि पूरक और रेचक के समय जो ध्वनि या घोष किया
जाए उसकी तरंगों का अनुभव मस्तिष्क में हो ।

लाभ:- इसका निरन्तर अभ्यास करने से शिरो गौरव (सिर का भारीपन)
दूर होता है । मस्तिष्क में निर्मलता आती है और मस्तिष्क गत नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं।
परिणामतः मानसिक तनाव, क्रोध, चिन्ता और विक्षेप से मुक्ति मिलती है। स्नायुओं
की शिथिलता दूर होता है, उच्चारण सम्बन्धी विकृति दूर होती है तथा स्वर में
मधुरता आती है । इस कुम्भक के द्वारा चित्त की वृत्तियों में स्थिरता आती है ।
मन प्रफुल्लित रहता है और हृदय में प्रसन्नता का अनुभव होता है ।

मूर्च्छा :-

पूरकान्ते गाढ़तरं बद्ध्वा जालंधरं शनैः ।
रेचयेन्मूर्च्छनाख्यं मनो मूर्च्छा सुखप्रदा ।।

अर्थात् पूरक प्राणायाम के अन्त में अत्यन्त दृढ़ता पूर्वक जालंधरबन्ध को लगाकर शनैः शनैः प्राण वायु का रेचन करना चाहिए । मूर्च्छा का मूर्च्छना नामक यह कुम्भक मूर्च्छा कारक एवं सुखप्रद है ।

इसका षण्मुखीमुद्रा भी कहते हैं । यह प्राणायाम पाँचों भूतों के जो रंग [पृथ्वी का पीला, जल का सफेद, अग्नि का लाल, वायु का हरा, आकाश का नीला] उनको जानने के लिए है, ऐसा कुछ योगीराज मानते है । यह भी समाधि में चित्तवृत्तिनिरोध करता है । इससे चित्त की एकाग्रता होती है ।

अन्य प्राणायामों की अपेक्षा यह प्राणायाम कुछ कठिन होने से गुरु के सम्मुख अथवा योग्य मार्गनिर्देशक की उपस्थिति में ही इसका अभ्यास करना चाहिए । अन्यथा इसके अभ्यास काल में या अभ्यास के अनन्तर हानि की सम्भावना रहती है ।

इस कुम्भक के लिए केवल सिद्धासन या पद्मासन में ही स्थित होकर इसे करना चाहिए । सर्व प्रथम आसन में सीधे बैठकर दोनों नासिका मार्गों से दीर्घ किन्तु शनैः शनैः श्वास लेकर उसे अन्दर ही रोक लेना चाहिए । तत्पश्चात् ठोड़ी को गले के नीचे जो गढ्ढा है उसमें टिका कर "जालन्धर बन्ध" लगाना चाहिए । इसके बाद दाएं और बाएं हाथ की अंगुलियों को निम्न स्थिति में रखते हुए उनका प्रयोग करें ।

अंगुठे के साथ वाली दोनों अंगुलियों से आँखों की नीचे और ऊपर वाली पलकों को कोमलता से बन्द कर तीसरी अंगुली से नाक के दोनों नथुने दबाकर बन्द कर लेना चाहिए । चौथी छोटी अंगुली से मुख के नीचे वाले ओष्ठ को नीचे से दबाकर इस प्रकार उपर उठाना चाहिए कि दोनों ओष्ठ परस्पर मिलकर बन्द हो जावें । तदनन्तर श्वास को अन्दर रोककर [मुलबन्ध] और "उड्डियान बन्ध" लगाना चाहिए । असह्य स्थिति होने पर दोनों अनामिका और अंगुलियां हटाकर शनैः शनैः रेचक करना चाहिए ।

लाभ:- यह कुम्भक मनो मूर्च्छाकारक है, अतः इससे मन की चन्चलता दूर होकर उसमें एकाग्रता आती है । मानसिक तनाव आदि उद्वेग की स्थिति शान्त होती है तथा मानसिक विकारों का शमन होता है । यह वीर्य रक्षा विकारों का अपूर्व साधन है । परिणामतः तत्सम्बन्धी विकारों का शमन होता है । इसके अतिरिक्त जठराग्नि के विकार दूर होकर पाचन क्रिया सामान्य होती है और उदर व फुफ्फुस सम्बन्धी विकारों का शमन होता है ।

प्लाविनी:-

"हठयोग प्रदीपिका" के अनुसार शरीर के प्रविष्ट हुई अत्यधिक वायु से पूरित उदर वाला योगी अगाध जलराशि में भी कमल के पत्ते की भांति सुखपूर्वक तैरता है । इसी सुखपूर्वक तैरने के कारण इस प्राणायाम का प्लाविनी है ।

विधि- सर्वप्रथम पद्मासन में बैठ कर पूरक करना चाहिए अर्थात् मुख को खोलकर आमाशय में शनै शनै पानी की घूंट की तरह वायु की घूंट भरकर उसे अन्ननली में "धकेलिए" इससे वायु आमाशय में भरी जाएगी । इससे गुब्बारे की तरह पेट फूल जाएगा । हाथ से बजाने पर इससे ध्वनि निकलेगी । फिर पेट में यथाशक्ति वायु भरी रहेगी । इसी स्थिति में जितने कुम्भक करने है, पूरे करे । पेट में कुछ वायु और लेकर पेट को दबाते हुए मुख द्वारा वायु का रेचन करे अर्थात् वायु को बाहर निकाले ।

इस प्राणायाम से पेट में वायु भरकर पानी मे बिना हाथ पैर चलाये सीधा लेटा जा सकता है । इसीलिए इसे प्लाविनी कहते हैं । हमारे शरीर में भी 80-85 प्रतिशत पानी है । मनुष्य के शरीर का घनत्व पानी से कुछ ही अधिक होता है । पेट में वायु भरने से शरीर का आयतन बढ़ने से व्यक्ति पानी में बिना क्रिया के घण्टों स्थिर रह सकता है ।

लाभ:- प्लाविनी नामक इस कुम्भक के अभ्यास से सभी प्रकार के उदर विकार मिट जाते हैं । उदर की शुद्धि हो जाती है और पाचन क्रिया ठीक हो जाती है । ~~और पाचन क्रिया ठीक रहती है~~ । इस कुम्भक के द्वारा शरीर एकदम हल्का हो जाता है ।

स्वर ज्ञान और शुभाशुभ चिन्तन

संसार की रचना करने वाले परमपिता परमात्मा ने मनुष्य के जन्म के समय में ही शरीर के साथ एक ऐसा आश्चर्य जनक उपाय रच दिया है, जिसे जान लेने पर असफलता का दुख नहीं हो सकता है। वह उपाय है "स्वर विज्ञान"। प्राणायाम के सन्दर्भ में स्वर का अर्थ देवनागरी लिपि के स्वरों से नहीं है और न ही इसका सम्बन्ध संगीत के स्वरों से है। इस विज्ञान का सीधा सम्बन्ध तो श्वास से है। मनुष्य ने अपनी बुद्धि कौशल से श्वास को अपने दैनिक व्यावहारिक जीवन में प्राणायाम के अभाव में ही शुभ और अशुभ मान लिया है। प्राणायाम की उपयोगिता योग के क्षेत्र में मनोनिग्रह पर आधारित है। शरीर की दृष्टि से योग्य गुरु के बिना किया गया प्राणायाम अशुभ और निगुरा रह कर सीखा गया प्राणायाम अशुभ अर्थात् हानिकारक हो सकता है। परन्तु स्वर तो जीवन की रेखा है, इसके साथ शुभ-अशुभ का जोड़ना कहां तक संगत है, यह एक विचारणीय विषय है।

मनुष्य ने अपनी असफलताओं और सफलताओं का अच्छा और बुरा फल स्वयं पर न डालकर उसके सम्पर्क में आने वाले ग्रहों, नक्षत्रों, मासों, तिथियों, पशुओं, और पक्षियों पर डाल दिया है। इसी का परिणाम है कि कोई भी मनुष्य नया काम आरम्भ करने से पूर्व ज्योतिषियों के घर चक्कर लगाता रहता है। इस चक्कर में प्रभाव डालने वाली वस्तुएँ और प्रभाव के सम्बन्ध में जानकारी देने वाला, दोनों बाहरी तत्व है। परन्तु इस दृष्टि से "स्वर विज्ञान" नितान्त भिन्न है। इसमें स्वर सांस भी उसका अपना है और उसके विषय में जानकारी देने वाला अथवा रखने वाला वह स्वयं ही है। अर्थात् वह परीक्षार्थी भी है और परीक्षक भी है।

इस कायारूपी नगरी में वायु (सांस) राजा के समान है। इस सिद्धान्त को मानकर प्राणवायु, श्वास और प्रश्वास दो नामों से पुकारा जाता है। प्रत्येक प्राणी से जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त श्वास-प्रश्वास की क्रिया होती रहती है। यह सांस नासिका के दोनों छेदों से एक ही समय और एक ही साथ समान रूप से नहीं चला करता, कभी दायें और कभी बायें छेदों से चलता है। कभी-कभी एकाध घड़ी तक एक ही समय दोनों नाकों से समान भाव से श्वास चलता है। बायें नाक के छेद से सांस के चलने को "इडा" में चलना और दायें नाक के छेद से सांस चलने को पिंगला में चलना कहते हैं। दोनों नासा छिद्रों से एक समान सांस चलने को सुषुम्ना में चलना कहते है। जिस नासीका छिद्र से सरलता पूर्वक श्वास बाहर निकलता हो, उस समय उसी नासिका का स्वर कहना चाहिऐ। प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदय के समय से ढाई-ढाई घड़ी (लगभग 12 मिनट) के हिसाब से एक-एक नासिका से सांस चलता है। किस नासिका से सांस चल रहा है इसे जानने के लिऐ एक नासापुट को दबाकर दूसरे द्वारा श्वास बाहर निकालने पर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि एक नासिका से सरलता पुर्वक श्वास का प्रवाह चल रहा है और दूसरा नासापुट बन्द है। रात-दिन में बाहर बार बायीं और बाहर बार दायीं नासिका से क्रमानुसार श्वास चलता है।

किस दिन किस नासिका से पहिले सांस लेने की क्रिया होती है, इसका एक निश्चित नियम है। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा तिथि से तीन-2 दिन की बारी से "चन्द्र" नाड़ी अर्थात् बायीं नासिका से तथा कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा तिथि से तीन-2 दिन की बारी से "सूर्य" नाड़ी अर्थात् दाहिनी नासिका से पहिले सांस चलता है। अर्थात् शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा, द्वितीय, तृतीया, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी और पूर्णिमा इन नौ दिनों में प्रातःकाल सूर्योदय के समय पहिले बायीं नासिका से श्वास चलता है। चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी, द्वादशी इन छह दिनों में प्रातः काल पहिले दाहिनी नासिका से चलना आरम्भ होता है। और वह ढाई घड़ी तक चलता है। उसके बाद दूसरी नासिका से चलना है आरम्भ होता है और वह ढाई घड़ी तक चलता है। इसके बाद दूसरी नासिका से चलता है। कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी, चर्तुदशी और अमावस्या इन नौ दिनों में सूर्योदय के समय पहिले दाहिनी नासिका से तथा चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी, और द्वादशी इन छह दिनों में सूर्य के उदयकाल में पहिले बायीं नासिका से श्वास चलता है और ढाई घड़ी ~~तक~~ बाद दूसरी ~~नाड़ी~~ नासिका से चलता है।

स्वर विज्ञानिकों की मान्यता के अनुसार एक-2 नासिका के निर्दिष्ट क्रम से श्वास चलने के समय क्रमशः पंचतत्वों (आकाश, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) का उदय होता है। इस श्वास-प्रश्वास की गति को समझ कर कार्य करने से शरीर स्वस्थ रहता है और मनुष्य दीर्घजीवी होता है।

वाम नासिका का श्वास फल :- नासिकाओं के श्वासफल के विषय में यह मान्यता कि जिस समय "इड़ा" नाड़ी से अर्थात् वाम नासिका से श्वास चलता हो उस समय स्थिर कार्यों को करना चाहिएँ। जैसे- आभूषण धारण करना, दूर की यात्रा करना, गृहस्थ आदि, आश्रमों प्रवेश, मन्दिर तथा मकान बनवाना, तालाब, कुआं और मूर्ति की स्थापना करना आदि। इसी समय यात्रा, दान, विवाह, नया कपड़ा पहनना, शान्ति कर्म, दिव्य औषध सेवन, मित्रता करना आदि शुभ कार्य करने चाहिएँ। बायीं नाक से स्वर चलने के समय शुभ कार्य करने से उनमें सफलता मिलती है। परन्तु वायु अग्नि और आकाश तत्त्व के उदय के समय उक्त कार्य नहीं करने चाहिएँ। ~~दक्षी~~

दायींनासिका का श्वासफल

जिस समय पिंगला नाड़ी अर्थात् दाहिनी नाक से श्वास चलता हो उस समय कठिन कार्य करने चाहिएँ। जैसे क्रूर विद्या का अध्ययन और अध्यापन, नौकादि आरोहण, तान्त्रिकमतानुसार वीरमन्त्रादिसम्मत उपासना, वैरी को दण्ड, शस्त्राभ्यास, पशुविक्रय, ईंट, पत्थर, काठ और रत्नादि का तराशना, यन्त्र-तन्त्र बनाना, किले और पहाड़ पर चढ़ना, हाथी, घोड़ा, ऊंट आदि की सवारी करना, व्यायाम, षट्कर्मसाधन, बेताल तथा ~~xxxxxxxx~~ भूतादि साधन, युद्ध आदि।

सुषुम्ना का श्वासफल-

दोनो नाकों से सांस चलने के समय किसी भी प्रकार का शुभ अथवा अशुभ कार्य नहीं करना चाहिऐं। इस अवधि में किये गये कार्य निष्फल रहते है। उस समय योगाभ्यास और धारणा, ध्यान आदि के द्वारा ईश्वर का स्मरण करना चाहिऐ। सुषुम्ना नाड़ी के श्वास चलने के समय किसी को दिया गया शाप या वरदान सफल होता है।

विरुद्ध श्वास का फल - हम पहले कह चुके है कि शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा तिथि से तीन-तीन दिन के अन्तर से सूर्योदय के समय पहिले बायीं नासिका से और कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से तीन-2 दिन के अन्दर से सूर्योदय के समय पहिले दायीं नासिका से निश्वास प्रवाहित होने का स्वाभाविक नियम है। यदि प्रतिपदा आदि तिथियों के निश्चित क्रम के विरुद्ध श्वास चले तो समझना चाहिऐ कि कुछ अमंगल होने की सम्भावना है। जैसे शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को प्रातःकाल नींद टूटने पर सूर्योदय के समय पहिले यदि दायीं नासिका से श्वास चलना आरम्भ हो, तो उस दिन से पूर्णमासी के बीच गर्मी के कारण कोई पीड़ा होगी और कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा तिथि को सूर्योदय पर पहिले बायीं नासिका से श्वास चलना आरम्भ हो, तो उन दिन से अमावस्या तक के अन्दर कफ या सर्दी के कारण कोई पीड़ा होगी।

यदि दो पखवाड़े तक इसी प्रकार विपरित क्रम से सूर्योदय के समय निश्वास चलता रहे तो किसी आत्मीय स्वजन को भारी बिमारी होगी अथवा मृत्यु होगी और किसी प्रकार की विपत्ति आऐगी।

उपर्युक्त दोनों वाक्य खण्डों में प्रथम वाक्य फल तो आयुर्वेद में वर्णित वात, पित्त और कफ को ध्यान में रखकर किसी सीमा तक बुद्धि गम्य हो सकता है। परन्तु द्वितीय वाक्य खण्ड के आत्मीय जन की मृत्यु अथवा विपत्ति वाली बात समझ में नहीं आती। स्वयं व्यक्ति के ऊपर आने वाली शारीरिक पीड़ा को दूर करने के उपाय स्वर शास्त्रियों ने बताऐं है। इनके कथानुसार शुक्ल पक्ष अथवा कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन प्रातः काल यदि विपरित (ढंग) से श्वास चलने का पता लग जाँये, तो उस नासिका को कई दिन तक बन्द करने से रोग उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती। उस नासिका को इस तरह बन्द रखना चाहिऐं, जिससे उससे निश्वास न निकले। इस प्रकार कुछ दिनों तक दिन रात लगातार अभ्यास करने से उक्त तिथियों के भीतर कोई भी रोग नहीं होगा। परन्तु यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिऐं कि भोजन के समय नासिका खुली रखे। नासिका बन्द रखने का अभ्यास आरम्भ में विपरित स्वर देनेवाली नासिका के छेद को अंगूठे से बन्द करके रखना चाहिऐं। इसके बाद शनैः शनैः पूरक प्राणयाम द्वारा अभ्यास को बढ़ाते रहना चाहिऐं, और अंगूठे को हटा देना चाहिऐ।

यदि असावधानी के कारण निश्वास की गड़बड़ी से कोई रोग उत्पन्न हो जाऐं तो जब तक रोग दूर न हो जाऐं तब तक उपर्युक्त प्रयास करते रहना चाहिऐं। ऐसा करने से रोग शीघ्र ही दूर हो जाऐगा। यदि कोई रोग होने की

की सम्भावना होगी, तो वह भारी न होकर सामान्य रूप में होगा और फिर थोड़े ही दिनों में दूर हो जाएगा । बहुत से स्वर विज्ञानी यह भी कहते है कि अंगूठे से नासिका छिद्र बन्द करते समय "ओ३म् प्राणाय स्वाहा" और ओ३म् प्राण:प्राण:" आदि मन्त्रों का मन ही मन जाप करते रहना चाहिऐ । ऐसा करने से शीघ्र ही सफलता मिल जाती है ।

जो लोग प्राणायाम के अभ्यस्त नहीं है, उनके लिऐ विपरीत प्रश्वास को रोकने के लिऐ "षट्कर्म" के समान "तूलनेति" अथवा पटनेति का उपाय भी स्वर ज्ञान में बताया गया है । इस उपाय में नाक के छिद्र में प्रवेश होने योग्य "तूल" अर्थात् साफ रूई लेकर उसकी पोटली बनाकर नासिका छिद्र में इस प्रकार प्रविष्ट कर दे कि जिससे उस नाक से श्वास-प्रश्वास बिल्कुल बन्द हो जाये । किन्तु जिन्हे लोगों को कोई शिर का रोग है, अथवा जिनका मस्तिष्क दुर्बल है, उनके लिऐ 'तूलनेति' की अपेक्षा 'पटनेति' करने का विधान है । 'पटनेति' में केवल स्वच्छ और मुलायम और बारीक कपड़े की पोटली बनाकर नासिका के छिद्र में रखनी चाहिऐ । "तूलनेति" और "पटनेति" करते समय नासिका में चींटी रेंगनें जैसी अनुभूति अवश्य होगी और छींक आने की सम्भावना भी हो सकती है । अत: दोनों नेतियों की क्रिया शनै:शनै: करनी चाहिऐ । इन क्रियाओं को करते समय मुंह से सांस लेने की आदत को छोड़ना चाहिए । ऐसा करने से शीघ्र लाभ होगा । जितने समय अथवा जितने दिन अथवा जितने मास नासिका बन्द रखने की आवश्यकता हो, उतनी अवधि तक अधिक परिश्रम के कार्य, धूम्रपान, जोर से चिल्लाना, दौड़ना आदि नहीं करना चाहिऐ ।

कभी-2 कार्यभेद से अथवा दूसरे अनेक कारणों से एक नासिका से दूसरी नासिका में वायु की गति बदलने की आवश्यकता पड़ जाया करती है । कार्य के अनुकूल नासिका से श्वास चलने तक, उस कार्य को न करके चुपचाप बैठे रहना किसी के लिऐ भी सम्भव नहीं होता । अत: अनुकूल श्वास लेने की प्रक्रिया को सीख लेना चाहिऐ । इसके लिऐ जिस नासिका से श्वास चलता हो, उसके विपरीत दूसरी नासिका को अंगूठे से दबा देना चाहिऐ और जिससे श्वास चलता है, उसके द्वारा वायु को खींचना चाहिऐ । फिर उसको दबाकर दूसरी नासिका से वायु को निकालना चाहिऐ कुछ देर तक इसी प्रकार एक नासिका से सांस लेकर दूसरी नासिका से निकालते रहने से सांस की गति अवश्य बदल जाऐगी ।

इस क्रिया के अतिरिक्त एक अन्य सरल क्रिया यह भी है कि जिस नासिका से सांस चलता हो उसी करवट सोकर यह क्रिया करने से बहुत जल्दी वायु की गति बदल जाती है और दूसरी नासिका से श्वास प्रवाहित होने लगता है ।

स्वर विज्ञानियों ने श्वास के सम्बन्ध में गम्भीर अध्ययन के पश्चात् "वर्षफल" भी निकालने का प्रयास किया है । इस स्थिति में श्वास ज्योतिषियों की भविष्य वाणी के समान हो जाता है । श्वास ज्ञान के सम्बन्ध में विशेष जानकारी रखने वाले कहते हैं कि यदि चैत्रमास की शुक्ल प्रतिपदा तिथि को प्रातःकाल अर्थात्

चान्द्रवर्ष के आरम्भ होने के समय तथा दक्षिणायन और उत्तरायण के प्रारम्भ में विचक्षण (अत्यधिक प्रतिभाशाली) व्यक्तियों को तत्वसाधन के भेद-अभेद का निरूपण और निरीक्षण करना चाहिए। यदि उस समय, चन्द्रनाड़ी (बांयी नासिका से सांस) चलता हो और पृथ्वीतत्त्व, जलतत्त्व या वायुतत्त्व का उदय हुआ हो, तो समझना चाहिए कि पृथ्वी सब प्रकार के धान्य से पूर्ण होगी और देश में सुकाल होगा। और यदि अग्नितत्त्व या आकाश तत्त्व का उदय हो, तो समझना चाहिये कि पृथ्वी पर भीषण भय और घोर दुर्भिक्ष उपस्थित होगा। इस समय यदि सुषुम्ना नाड़ी से श्वास प्रवाहित होता हो, तो सब कार्य नष्ट होंगे और पृथ्वी पर राज्यक्रान्ति, महारोग और पीड़ा आदि उपस्थित होंगे।

मेषसंक्रमण के दिन अर्थात् महाविषुव-संक्रान्ति के दिन प्रातःकाल यदि पृथ्वी तत्त्व का उदय हो, तो अत्यधिक वर्षा, राज्यवृद्धि और सुखादि की प्राप्ति होगी। जलतत्त्व का उदय होने पर भी यही फल होगा। यदि अग्नितत्त्व का उदय हो तो दुर्भिक्ष, राष्टविप्लव और रोगों की उत्पत्ति होगी। वायु तत्व का उदय होने पर उपद्रव, भय, अतिवृष्टि और अनावृष्टि होगी। आकाश तत्त्व का उदय होने पर सन्ताप, ज्वर और पृथ्वी पर अन्न की हानि होगी।

जिस प्रकार अष्टांग योग में आसन और प्राणायाम द्वारा अनेक रोगों का निवारण करके शरीर को स्वस्थ रखा जाता है, ठीक इसी प्रकार श्वास विज्ञान में श्वास ज्ञान के आधार पर अनेक रोगों का निवारण किया जाता है। इस दृष्टि से प्राणायाम और श्वासज्ञान दोनों ही एक कोटि में आ जाते हैं। पूरक, कुम्भक और रेचक ये तीनों ही श्वास-ज्ञान के आधार पर भूत तत्त्व हैं और यही तत्त्व प्राणायाम में भी प्रमुख है। स्वर ज्ञान शास्त्रियों के अनुसार ज्वर (बुखार) होने पर अथवा उसकी आशंका होने पर जिस नासिका से श्वास चलता हो उस नासिका को बन्द कर देना चाहिए। जब तक ज्वर न उतरे और शरीर स्वस्थ न हो जाए, तब तक उस नासिका को बन्द ही रखना चाहिये। ऐसा करने से 10-15 दिनों में उतरने वाला ज्वर पांच या सात दिनों में उत्तर जायेगा।

अजीर्ण होने की अवस्था में सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि दायीं नासिका के सांस चलने पर ही भोजना करना चाहिये। प्रतिदिन इस नियम से भोजन करने से वह आसानी से पच जायेगा और कभी अजीर्ण का रोग नहीं होगा। भोजन के बाद थोड़ी देर बांयी करवट लेटना चाहिए। जिसके पास समय न हो, उन्हें ऐसा उपाय करना चाहिए कि भोजन के बाद 10-15 मिनट तक दायीं नाक से सांस चले। पूर्वोक्त उपाय द्वारा "तूलनेति" से नाक बन्द कर लेनी चाहिये। गरिष्ट (भारी) भोजन भी इस नियम से शीघ्र पच जाता है।

छाती, पीठ या बगल में स्नायुओं से सम्बन्धित दर्द होने पर जिस नासिका से प्रश्वास चलता हो, उसे बन्द करके दूसरी नासिका से सांस लेना चाहिये। दो-चार मिनट में दर्द का जोर बन्द हो जाएगा। दौरा पड़ने पर जिस नासिका से

दमा या श्वास रोग का जोर का दौरा ...

नि:श्वास चलता हो, उसे बन्द करके दूसरी नासिका से श्वास लेना चाहिए। दस-पन्द्रह मिनट में जोर कम हो जाएगा। प्रतिदिन श्वास बदलने की क्रिया से महिने भर में पीड़ा शान्त हो जाएगी। दिन में जितने अधिक समय तक यह क्रिया की जाएगी, उतना ही शीघ्र यह रोग दूर होगा।

स्वर ज्ञान के क्षेत्र को साधकों ने मन्त्र एवं तन्त्र योग में भी जोड़ दिया है। और इसको "शत्रु वशीकरण" के विषय में अमोघ शक्ति मान लिया है। साधकों के अनुसार कुम्भक करके मुख द्वारा नि:श्वास-वायु पीना चाहिए। ऐसा करते -2 जब नि:श्वास-वायु स्थिर हो जाए, तब शत्रु का ध्यान करना चाहिए। इस तरह घोर शत्रु भी वश में हो जाता है। चन्द्रनाड़ी चलते समय बायीं ओर, सूर्यनाड़ी चलते समय दायीं ओर सुषुम्ना चलते समय बीच में रखकर कार्य करने से विवाद में जीत होती है।

इसी प्रकार जिस नाड़ी से वायु चलता हो, उसमें स्थित प्राणवायु को कान तक खींच कर जिस ओर की नासिका से वायु चलता हो उसी ओर का पांव आगे बढ़ाकर गमन करने से शत्रु विजय प्राप्त होती है।

स्वर के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवरण देने का अभिप्राय यही है कि सम्पूर्ण योग पद्धतियों और तन्त्र शास्त्रों में स्वरसाधना" को स्वीकार किया गया है। इसे स्वीकार करने में किसी ने इसे प्राणायाम", तो किसी ने "पवनविजय" और किसी ने "स्वरोदय" नाम से इसे पुकारा है। वस्तुतः स्वर ज्ञान एक ऐसी क्रिया है जिसके अपनाने से बिना औषधि भी मनुष्य स्वस्थ रह सकता है। अष्टांग योग की दृष्टि से यह प्राणायाम का पूरक है परन्तु दोनों में एक महान् अन्तर यह है कि प्राणायाम में अभी तक तन्त्र और यन्त्र का प्रभाव हावी नहीं है, जबकि स्वर ज्ञान में कार्यों के शुभाशुभ फल से लेकर पुत्र प्राप्ति के लिए गर्भाधान करने में भी श्वास की गति का ध्यान रखना है। शत्रु वशीकरण की भावना भी इसके साथ जुड़ गई है।